वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

6607

अनेकान्त

(पत्र–प्रवर्तक : आचार्य जुगल किशोर मुख़्तार 'युगवीर')

वर्ष ४८ किरण –१ जनवरी–मार्च, १९९५

क्रमांक	शीर्षक	पृष्ठ संख्या
१.	मन को सीख	१
२.	वैयाकरण और अरहंताणं पद —हेमचन्द्र	२
३.	आगमों के प्रति विसंगतियाँ —पद्मचन्द शास्त्री	३
४.	दिगम्बर श्वेताम्बर भेद कैसे हुआ ? —सुभाष जैन	११
५.	गोल्ला देश —रामजीत जैन एडवोकेट	१८
६.	रानी रूपमती पुरातत्व संग्रहालय सारंगपुर की जैन प्रतिमाएं —नरेशकुमार पाठक	२४
७.	अनादि मोह ग्रन्थि के क्षय का उपाय —डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल	२७

वीर सेवा मंदिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२.

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

6607

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगल किशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४८ किरण -१ जनवरी-मार्च, १९९५

क्रमांक	शीर्षक	पृष्ठ संख्या
१.	मन को सीख	१
२.	वैयाकरण और अरहंताणं पद —हेमचन्द्र	२
३.	आगमों के प्रति विसंगतियाँ —पद्मचन्द शास्त्री	३
४.	दिगम्बर श्वेताम्बर भेद कैसे हुआ ? —सुभाष जैन	११
५.	गोल्ला देश —रामजीत जैन एडवोकेट	१८
६.	रानी रूपमती पुरातत्व संग्रहालय सारंगपुर की जैन प्रतिमाएं —नरेशकुमार पाठक	२४
७.	अनादि मोह ग्रन्थि के क्षय का उपाय —डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल	२७

वीर सेवा मंदिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२.

अनेकान्त

वर्ष ४८	वीर सेवा मन्दिर, २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२	जनवरी-मार्च
किरण–१	वीर नि०सं० २५२१ वि० सं० २०५१	१९९५

मन को सीख

"रे मन, तेरी को कुटेव यह, करन विषै को धावै है।
इनही के वश तू अनादि तै, निज स्वरूप न लखावै है।।
पराधीन छिन-छीन समाकुल, दुरगति विपति चखावै है।। रे मन०।।
फरस विषय के कारन वारन, गरत परत दु:ख पावै है।
रसना इन्द्रीवश झष जल मे, कटक कण्ठ छिदावै है।। रे मन०।।
गन्ध-लोल पकज मुद्रित मे, अलि निज प्रान खपावे है।
नयन-विषयवश दीपशिखा मे अङ्ग पतङ्ग जरावै है।। रे मन०।।
करन-विषयवश हिरन अरन मे, खल कर प्रान लुभावै है।
'दौलत' तज इनको जिनको भज, यह गुरु सीख सुनावै है। रे मन०।।

– कविवर दौलतराम

भावार्थ–हे मन, तेरी यह बुरी आदत है कि तू इन्द्रियो के विषयो की ओर दौड़ता है। तू इन इन्द्रियो के वश के कारण अनादि से निज स्वरूप को नही पहिचान पा रहा है और पराधीन होकर क्षण-क्षण क्षीण होकर व्याकुल हो रहा है और विपत्ति सह रहा है। स्पर्शन इन्द्रिय के कारण हाथी गढे में गिर कर, रसना के कारण मछली कॉटे मे अपना गला छिदा कर, घ्राण के विषय-गध का लोभी भौरा कमल मे प्राण गॅवा कर, चक्षु वश पतगा दीप-शिखा मे जल कर और कर्ण के विषयवश हिरण वन मे शिकारी द्वारा अपने प्राण गॅवाता है। अत तू इन विषयो को छोड कर जिन भगवान का भजन कर, तुझे यही गुरु की सीख है।

वैयाकरण हैमचन्द्र और 'अरहंताणं' पद

सोअ-वसारोत्तूणवि रोत्तुमणा विम्हरन्ति रोत्तत्वं ।
दट्ठूण जाण मुत्तिं, **अरहन्ताणं** नमो ताणं ॥५२॥

जे दट्ठव्वे दट्ठुं, इन्दो काहीअ लोअण-सहस्सं ।
दंसण तत्तिं काउं, **अरहन्ताणं** नमो ताणं ॥५३॥

काऊण कायव्वं कम्मं काहिन्ति जे ण पुणरुत्तं ।
जगवोहम् इच्छिराणं, **अरहन्ताणं** नमो ताणं ॥५४॥

जो अणुगच्छइ जच्छइ, छिदिउं अच्छइ तणुं च ।
तेसिंपि अणभिदिअ-भावाण, **अरहन्ताणं** नमो ताण ॥५५॥

सविहे न जाण कुज्झइ, जुज्झइ मुज्झइ भवे अगिज्झंतो ।
देही वुज्झइ सिज्झइ, **अरहन्ताणं** नमो ताण ॥५६॥

रुंधिअ-करणं, रुंभिअ-पवणं, रुज्झिअमणं अपडिएहिं ।
झाइव्वाण मुणीहिं, **अरहन्ताणं** नमो ताण ॥५७॥

सडिअ-रया, कढिअमला वड्ढिअ तव-तेअ-वेढिअंगा य ।
जाणज्जवि वर-मुणिणो, **अरहन्ताणं** नमो ताणं ॥५८॥

दुक्कड-संविल्लि अओ भवपासोव्वेढणोज्झओ लोओ ।
उव्वेल्लिज्झइ जेहिं, **अरहन्ताणं** नमो ताणं ॥५९॥

—कुमारपालचरित ७/५२-५९॥

आगमों के प्रति विसंगतियां

–पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली-२

णमो अरहंताणं का अपमान क्यों ?

कुन्दकुन्द भारती सस्था के अधिष्ठाता तथा कुदकुंद साहित्य के वहाँ के संपादक प० वल्भद्रजी ने घोषणा की है कि (णमोकार मत्र का) **''अरिहंताणं'' पाठ ही शुद्ध है और 'अरहंताणं' पाठ खोटे सिक्के की तरह चलन में आ रहा है।''** प्राकृत विद्या दिसम्बर ९४ पृष्ठ १०-११।

उक्त घोषणा से मूलमत्र का अपमान तो है ही, साथ ही इससे लोगो मे मंत्र के प्रति भ्रम की स्थिति होकर मंत्र के प्रति अश्रद्धा भी उत्पन्न हो सकती है।

स्मरण रहे कि उक्त सपादक को प्राकृत (स्वाभाविक भाषा)में भी व्याकरण इष्ट है। उक्त संस्था की पत्रिका द्वारा प्राकृत मे व्याकरण होने की पुष्टि मे पहिले भी ''वागरण'' शब्द के 'व्याख्या' जैसे प्रासगिक प्रसिद्ध अर्थ का विपर्यास करने का व्यर्थ प्रयास भी किया जा चुका है। (प्रतिवाद देखे-''अनेकात ४७/३) उक्त सपादक प्राकृत व्याकरण में कुदकुद के पश्चात्वर्ती बारहवी सदी के वैयाकरण हेमचन्द्र का उल्लेख मान्य करते रहे है। अत **अरहंताणं** के विषय मे उन्ही आचार्य का मन्तव्य देखे —

हैमचन्द्राचार्य ने अपने व्याकरण के ८/२/१११ मे एक सूत्र **''उच्चार्हति''** दिया है उसकी व्याख्या में उन्होने लिखा है ''अर्हत् शब्दे हकारात् प्राग् अदितावुद भवति च। **अरहो, अरिहो रूपमरुहो** चेति सिद्धयन्ति। **अरहंतो, अरिहंतो, अरुहंतो** च पठ्यते।''

इसका शब्दार्थ है-अर्हत् शब्द में हकार से पहिले अ, इ और उ हो जाते है, इस प्रकार अरह, अरिह और अरुह रूप सिद्ध होते है-अरहंत, अरिहंत और अरुहत पढ़े जाते है।

उक्त भाति व्याकरण की दृष्टि से सभी रूप सिद्ध किये गये है। स्मरण रहे कि भाषा पहिले होती है और तदनुसार व्याकरण की रचना बाद मे होती है। सिद्ध है कि प्राकृत मे ये शब्द पूर्व में प्रचलित रहे--बाद मे व्याकरण ने उसकी पुष्टि की। धवलाकार ने स्पष्ट ही दोनो रूपों को मान्यता दी (देखे धवला १ पृष्ट ४४ व टिप्पणी भी)

उक्त सपादक ने अपने कथन की पुष्टि मे एकांगी जो प्रमाण दिये है उन्हीं आगमो मे तथा अन्य स्थलो मे भी इस **''अरहंताणं''** पद की भी पुष्टि की गई है। देखें :-

मूलाचार (संपादक पं० मनोहरलाल जी, संवत् १९७६)

१. "तेलोक्कपुज्जणीए **अरहंते** बंदिऊण तिविहेण" (४/१२२)
२. "तिरदणपुरूगुण सहिदे **अरहंते** विदिद सयल सब्भावे" (६/४२०)
३. "वंदित्ता **अरहंते** सीलगुणे कित्तइस्सामि" (११/१०१६)
४. "काऊण णमोक्कारं **अरहंताणं** तहेब सिद्धाण" (७/५०२)
५. "रजहंता अरिहंति य **अरहंता** तेण उच्चचंदे" (७/५०५)
६. "**अरहंत** णमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदी" (७/५०८)
७. "अरिहंति सिद्धिगमणं **अरहंता** तेण उच्चति" (७/५६२)

२ भगवती आराधना

वंदित्ता **अरहंते** वोच्छं " १.१.१

अरहंत सिद्ध चेइय सुदेय. १.१.४५

३. कसायपाहुड भाग १

"णियमेण **अरहंत** णमोक्कारो कायव्वो १ पृष्ठ १ पक्ति७-८ "कीरउ अण्णत्थ सव्वत्थ णियमेण **अरहंत** णमोक्कारो । सव्वण्हु वीयराय-**अरहंत** जिणादि सण्णाओ ।" पृ. ३१ पं. ३-४ ।

४. महाबंध १

"**अरहंत** दिवायरो जयऊ । गाथा २ पृष्ठ २

५. प्रवचनसार

"**अरहंताणंकाले** मायाचारोव्व इत्थीण । गाथा ४४

"पुण्णफला **अरहंता** । गाथा ४५

६. तिलोयपण्णत्ति

"**अरहंताणं** सिद्धाणं---" । गाथा १९

७. धवल १

"अतिशय पूजार्हत्वाद्धार्हन्ता । गाथा पृष्ठ ४४

"अरहंता" अरहंताणं । गाथा टिप्पणी पृष्ठ ४४

८. भगवती सूत्र

"णमो **अरहंताणं**, णमोसिद्धाणं.."पंचमअंग, प्रथम खड शतक १ पृ०३ पं. २४

टीका पूयसक्कारं सिद्धिगमणं च अरहा **अरहंता** तेण वुच्चंति ।"

९. भक्ति संग्रह

"**अरहंते** *कित्तिस्से --" गाथा २*

१०. अभिधान राजेन्द्र कोश (पृष्ठ ७५५)

"**अरहंत**-अर्हन्ति देवादिकृता पूजामित्यर्हन्त ।"

११. प्राकृतचन्द्रिका "के तृतीय प्रकाश के ५३ वें श्लोक मे भी हेमचन्द पोषित उक्त तीनो पदों के शुद्धत्व की पुष्टि की गई है । यथाहि - **अर्ह-अरहो, अरिहो, अरुहो** ।"

वचन से मुकरना :

पं० बलभद्र जी ने जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग एक लिखा है जो वी०नि०सं० २५०० में छपा। उसमें पंडित जी ने पृष्ठ १३ पं० ५ पर स्वयं लिखा है – "अर्हन्त, अरहंत, अरिहन्त ये शब्द समानार्थक हैं।" क्या तब पंडितजी को "अरहंताणं पद खोटा सिक्का नहीं दिखा, जो अब दिख रहा है ? खेद है।

आश्चर्य कि उक्त पंडित जी खारवेल के शिलालेखों को सही मान रहे हैं और उनके उद्धरण भी शौरसैनी की पुष्टि मे दे रहे है, पर फिर भी वे शिलालेख में अंकित "**अरहंताणं**" को खोटा सिक्का बता रहे है, जबकि हम आगमिक सभी शब्दरूपो को मान्य कर रहे है।"

पुग्गल की प्रामाणिकता

उक्त संपादक "पुग्गल" शब्द रूप को भी खोटा सिक्का बता रहे है और उनकी दृष्टि मे "पोग्गल" रूप ही शुद्ध है। इस सम्बध मे हम पहिले लिख चुके है-"यदि पोग्गल" रूप का निर्माण व्याकरण से हुआ तो पहिले उसका रूप क्या था ? यदि उसका पूर्वरूप "पुग्गल" था तो वह शब्द का प्राकृतिक, जनसाधारण की बोली का स्वाभाविक रूप है और पोग्गल "रूप से प्राचीन भी।"

फिर भी यदि व्याकरण की जिद है तो उसमे भी तो पुग्गल और पोग्गल दोनो रूप सिद्ध है-दोनो में कोई भी खोटा सिक्का नहीं। देखें--व्याकरण से

१ आचार्य हैमचन्द्र ने "ओत् सयोगे" सूत्र की भांति **"ह्रस्वः संयोगे"** ८/१/८४ भी दिया है और लिखा है कि "दीर्घवर्णस्य ह्रस्वत्वं, संयोगे परतो भवेत्" अर्थात् यदि पर मे सयुक्त अक्षर हो तो पूर्व के दीर्घ वर्ण को ह्रस्व हो जाता है। इसके लिए हैमचन्द्र ने "नीलोत्पलं" का उदाहरण देकर स्पष्ट कर दिया है कि इसमें "ओ" के बाद संयुक्त वर्ण होने से पूर्ववर्ती "ओ" को "उ" होकर "नीलोत्पलं" का रूप "नीलुप्पलं" बन गया। यही स्थिति "पुग्गल" की है यदि वहाँ भी ओ के स्थान पर उ हो गया तो फिर ये उसे क्यो नहीं मानते ?

२ प्राकृत के व्याकरण ग्रन्थ "प्राकृत सर्वस्व" में और त्रिविक्रम के प्राकृत व्याकरण मे भी इसी प्रक्रिया की पुष्टि की गई है। तथाहि "प्राकृतसर्वस्व-सूत्र ४/२ 'युते ह्रस्व' " युते परे दीर्घो ह्रस्वः स्यात्। सामलंगो। सामलंगो।

३ "त्रिविक्रमः प्राकृतव्याकरण" सूत्र १/२/४०"सयोगे" सयोगे परे पूर्वस्य स्वरस्य ह्रस्वो भवति। "अधरोष्ठ = अहरुट्टो। नीलोप्पलं-नीलुप्पलं।

पाठक व्याकरण से पुग्गल और पोग्गल दोनों रूपों की सत्यता को समझ गये होगे। फिर भी हम आगमों मे गृहीत पुग्गल रूप दर्शा दें। तथाहि –

आगमों में पुग्गल

१. प्रवचनसार (ए.एन. उपाध्याय संपादित)

"फासेहिं **पुग्गलाणं**" - २/८५

"**पुग्गल** जीवप्पगो भणिदो" २/८५

"तेसु पदेसु **पुग्गला** काया" २/८६

"**पुग्गल** कार्येहि सव्वदो लोगो" २/७६

२. भगवती आराधना

"ते चैव **पुग्गल** जादा" गाथा ४/१०

३. पंचास्तिकाय

(पं पन्नालाल सा आ. संपादित)

"**जीवापुग्गल** काया" गाथा २२

"**पुग्गल** दव्वेण विणा" गाथा २६

४ समयसार (संपादन, वही)

"**पुग्गल** कम्मं करोदि" गाथा ३३०

"**तम्हापुग्गला** कम्म मिच्छा" गाथा ३३१

५. नियमसार (सपादन, वही)

"ठिदिजीव **पुग्गलाणं** च" गाथा ३०

" **पुग्गलं** दव्वं मुत्तं" गाथा ३७

६ वारसाणुवेक्खा (संपादन, वही)

"**पुग्गल** परियट्ट संसारे" गाथा२५

७. अभिधान राजेन्द्र कोश ·

पुग्गल - "पूरणगलन धर्माणः **पुद्गला**" पृष्ठ ९६८

बन्नगंधरसाफासा **पुग्गलाणं**

तुलक्खणं- पृष्ठ १०९७

पुग्गला अणता पणत्ता - पृष्ठ १०९७

गोपेन्द्र : गोविन्द

"प्राकृत विद्या - दिसम्बर ९४ के पेज २० पर एक लेख मे शौरसैनी की पुष्टि मे लिखा है- 'आदि शकराचार्य ने भी अपने संस्कृत ग्रन्थ मे "गोपेन्द्र" इस सस्कृत पद की जगह "गोविन्द" इस शौरसेनी प्राकृत के पद का प्रयोग किया ।' सोचने की बात है कि जब उक्त पद मे सयुक्ताक्षर से पूर्व के 'ए' को शौरसेनी मे इ होकर "गोविद" रूप बन सकता है तब "पोग्गल" का पुग्गल रूप होना क्यो सिरदर्द बना हुआ है ? हेमचन्द्राचार्य तो "ह्रस्व सयोगे" सूत्र मे स्पष्ट कह रहे है कि सयोगी वर्ण से पूर्व के आ, ई, ऊ, ए, ओ, को क्रमश अ, इ, उ, इ, उ हो जाते है और 'ओत् संयोगे' "सूत्र से उ को ओ भी हो जाना है । इस प्रकार पश्चाद्वर्ती व्याकरण से भी पुग्गल और पोग्गल दोनो रूप सिद्ध किए गए है । प्राकृत के व्याकरणातीत रूप में तो किसी प्रकार का बन्धन ही नही वहाँ तो सभी

प्राकृत रूप सही है, जिन्हें पश्चाद्वर्ती संस्कृत वैयाकरणों ने विविध रूपों में विभक्त कर प्राकृत मात्र की सार्वभौमिकता को स्वीकार किया है।

हाँ, गोविन्द "शब्द शौरसेनी का है और शौरसेनी के किस विशेष सूत्र से निर्मित है तथा आदि शंकराचार्य ने इसे कहां शौरसेनी का घोषित किया है ? इन गुत्थियों को लेखक ने अपने लेख में नही सुलझाया है। स्पष्टीकरण होना चाहिए था। खेद, कि संपादक स्व-मान्य व्याकरण से सिद्ध रूपों को भी व्याकरणातीत बता रहे है। हम तो सभी को प्राकृत का स्वीकारते रहे है।

पाहुड शब्द की निष्पत्ति

यद्यपि उक्तसंपादक ने इसी अंक के पृष्ठ १३ पर यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि "जितने प्राकृत व्याकरण है, उनमे सस्कृत शब्दो से प्राकृत शब्द बनाने के नियम दिए है, " -तथापि वे (प्राकृत में व्याकरण सिद्धि के मोह मे अपना वचन भंग कर)" पाहुड शब्द की सिद्धि सस्कृत की बजाय "पदेहि फुड इस प्राकृत शब्द से बताने को उद्यत हुए। उन्हे नही मालूम कि उनके द्वारा प्रस्तुत व्याकरण संबंधी प्राकृत गाथाएँ भी ठेठ उस शौरसेनी की नही, जिसे वे दिगंबर आगमो की भाषा घोषित कर रहे है। देखें - उन गाथाओ के कुछ शब्द रूप। क्या वे शौरसेनी के है ? जैसे-जइ, भणइ, कीरइ, आइ, एए, कायव्वो, आई, तइअत्तणयं, दरिसेयव्वो, काऊण -आदि। जब मूल ही नही, तब शाखा कहा? फिर यह भी स्पष्ट नहीं कि क्या वे गाथाएं कुन्दकुन्द के पूर्व की हैं ? जिनके आधार पर कुन्दकुन्द चले हों और इसमे क्या प्रमाण है ?

आगमों पर संकट

पं० बलभद्र द्वारा की गई घोषणा कि - **"अरहंताणं और पुग्गल शब्द रूप खोटे सिक्के की भांति चलन में आ रहे है**," से तो वे सभी दिगम्बर शास्त्र संकट मे आ गए है, जिनमे उक्त शब्दरूप विद्यमान है- और जिनके प्रमाणो को ऊपर भी दर्शाया गया है। पाठक सोचे कि, दिगम्बरों के कौन से शास्त्र पूरे खरे सिक्के है जिनमे उक्त शब्द रूपो मे से एक भी रूप नही है। उक्त तथ्यों के सिवाय सपादक जी और भी खोटे सिक्को का चुनाव करने की कृपा करे - क्योंकि कुन्दकुन्द भारती जैसा सुरक्षित स्थान और अवसर उन्हे फिर शायद ही मिले, वहाँ गुरू का वरदहस्त भी विद्यमान है। वे वहाँ बैठकर यह भी निश्चय करे कि दिगम्बर-आगमो मे ये खोटे सिक्के कब और कैसे प्रवेश कर गए ? कही ऐसा तो नहीं कि कभी किसी अन्य को आप जैसा सुअवसर प्राप्त हो गया हो और उसने अवसर देख (आपकी दृष्टि मे) इन खोटे सिक्कों को प्रश्रय दे दिया हो ? हमारी दृष्टि से आगम के शब्दो में तो सभी सच्चे सिक्के है।

शौरसेनी मात्र कैसे, क्यों ?

अग और पूर्वो को दोनो सम्प्रदाय स्वीकार करते है और उनकी भाषा अर्धमागधी दोनो को मान्य है। बाद मे दिगम्बरो मे इनका लोप घोषित करके दृष्टिवाद का कुछ अंश

शेष मान लिया। पं० कैलाशचंद्र जी शास्त्री लिखते है कि - कसाय पाहुड और छक्खंडागम दोनो सिद्धान्त ग्रन्थों का विकास पूर्वो से हुआ था - "पूर्व पीठिका पृष्ठ ६०९ ।

प्रश्न होता है कि जब पूर्वो की भाषा अर्धमागधी थी तो कसायपाहुड व छक्खडागम शौरसेनी कैसे बन गए जबकि उनका निकास अर्धमागधी से हुआ ? इसके सिवाय उक्त दोनों ग्रन्थों के कर्ताओं के सम्बंध में कही यह भी प्रमाण नहीं मिलता कि वे कभी उत्तरभारत के शूरसेन प्रदेश में आए हों जिससे उनकी भाषा शौरसेनी मानने की सम्भावना को बल मिले। दक्षिण प्रदेश में शौरसेनी के प्रचार होने का निराकरण तो हम खारवेल शिलालेख प्रसंग मे कर चुके हैं। हम यह भी लिख चुके है कि भद्रबाहु काल मे ग्रन्थ नही थे, जिन्हें मुनिगण साथ ले गये हों। ऐसे में शौरसेनी मात्र के गीत गाना मात्र छल है ? हॉ, यह तो सम्भव था कि रचनाकार उभय महामुनि गुजरात मे प्रवास करते रहे और पुष्पदन्ताचार्य का अकलेश्वर (जो महाराष्ट्र के निकटस्थ है) मे चातुर्मास हुआ, ऐसे में कदाचित् महाराष्ट्री का प्रभाव पड़ा हो। शौरसेनी मात्र तो सर्वथा असभव है। कहीं ऐसा भी नहीं पढ़ा गया कि आचार्य कुन्दकुन्द भी कभी शूरसेन देश में विहार किये हों जो येनकेन प्रकारेण उनकी भाषा शौरसेनी मात्र स्वीकार की जा सके।

प्राकृत की दो रचनाएं

परमपूज्य आचार्य विद्यासागर जी की प्रेरणा और आशीर्वाद मे एक 'कुन्दकुन्द शब्दकोश' डा० उदयचंद जी द्वारा संपादित हुआ है। उसमें अरहंत शब्द तो अनेक स्थलो पर वताया गया है जबकि अरिहंत शब्द का कही उल्लेख भी नहीं है। क्या कोशकार विद्वान इस बात से अनभिज्ञ रहे जो प० बलभद्र जी के ज्ञान मे आ गयी ? यदि वे ऐसा समझे होते कि अरहंत खोटा सिक्का है तो अवश्य ही कोश मे उसका समावेश न करते। पूज्य आचार्य विद्यासागर भी यदि इसे खोटा सिक्का स्वीकारते तो संपादक को अवश्य वर्जन करते जैसाकि आचार्य श्री ने नही किया।

शौरसेनी व्याकरणकार इन्हीं डा० उदयचन्द ने अपने व्याकरण मे पृष्ठ २५ पर "**पुग्गलो, पुग्गला** और इसी व्याकरण की पाठमाला मे पृष्ठ ८१ पर पचास्तिकाय की गाथा १३६ मे **अरहंत** शब्द का पाठ दिया है। क्या सहयोगी उक्त डाक्टर साहव इन दोनो को खोटा सिक्का नही मानते रहे जो प्रामाणिक ग्रन्थों मे इन दोनो शब्दों का समावेश कर बैठे।

उपहार जो हमें मिले

बलिहारी है उपहार बाटनेवालो की कि वे सभी को उपकृत करने की कसम खाए बैठे है। जब उस परिसर से पवित्र "णमो अरहंताण" तक को खोटे सिक्के जैसा उपहार मिल गया, तब हमे पल्लवग्राहिपांडित्यं, विकलांग मन स्थिति वाले, व अपाहिज-विकलाग चिन्तन वाले जैसे उपहार मिलना कोई आश्चर्यकारी नही। हमारी क्या हानि है ? कुछ

मिला ही तो । क्या करें, हमारी अवस्था भी तो ऐसी ही है । इस अवसर पर हमें निम्न पंक्तियाँ याद आ गयीं --

'उन्हें यह फिक्र है हरदम, नई तर्जे जफा क्या हो ।
हमें यह शौक है देखें सितम की इन्तहा क्या हो ।।'

यह समय की ही बलिहारी है कि आगम भाषा तथा मूल णमोकार मंत्र के अरहंताणं जैसे पूज्य पद को खोटा सिक्का कहने वाले चैन की वंशी बजाये और आगमो की प्रतिष्ठा में रच-पच रहे जनों पर प्रहार हों, ठीक ही है ...

रामचन्द्र कह गये सिया से ....

एक बात और । इन्दौर के विद्वान श्री नाथूलाल जी शास्त्री मे हमारी श्रद्धा रही है । वे सरल प्रवृत्ति के निर्लोभ, मुनियो जैसे हित-मित प्रिय वचनालापी है । हमे 'प्राकृत विद्या' मे उनके अभिमत को पढ़कर आश्चर्य हुआ कि "इस अक मे णमो अरिहंताण का विकल्प णमो अरहताणं नही है । यह सप्रमाण स्पष्ट किया गया है ।'

ऐसा प्रतीत होता है कि पडित जी पूर्वापर विचार के बिना किसी इकतरफा प्रमाण के चक्कर मे आ गये । अन्यथा उन्होने सन् १९९० मे छपे ग्रन्थ "प्रतिष्ठा प्रदीप" मे स्वयं ही कम से कम १४ बार **"अरहंताणं"** पाठ दिया है । इसके सिवाय बीजरूप मे बने विनायक और मोक्षमार्ग यंत्रो मे दो बार **अरहंताणं** पाठ दिया है जबकि बीज मंत्र शुद्ध ही होता है हमने भी अपने लेख में पंडित जी की भांति ही दोनों रूपो को प्रामाणिकता देकर समान श्रेणी मे रखा है और दोनो ही रूप चलन मे है और इनके मान्य व्याकरण से भी सिद्ध है यह भी हम इसी लेख मे स्पष्ट कर चुके हैं । स्मरण रहे कि इन दिनो विद्वानो की दुहाई पर आगम-मूल बदले जा रहे है । आशा है कि पडित जी हमारी स्पष्टवादिता को जिनवाणी की रक्षा के पक्ष मे लेंगे क्योंकि हम जिनवाणी के परीक्षण मे वोटो के पक्षपाती नहीं । आगम का निर्णय आगम से होता है इसके पक्षपाती है । आशा है कि पंडित जी दोनों पदों की प्रामाणिकता पर पूर्ववत् दृढ़ रह मूलमंत्र के आगमिक दोनों रूपो को (जो प्राचीनतम ग्रन्थो मे उपलब्ध है) बचाने मे सहायी होगे और स्पष्ट करेगे । पंडित जी की "जैन संस्कार विधि" मे भी 'अरहताणं' पद सुरक्षित है ।

एक नवीन उपलब्धि की आशा

डा० देवेन्द्र कुमार जैन प्राकृत के ख्याति प्राप्त विद्वान है । उन्होंने "रयणसार" का सम्पादन किया जो सन् १९७४ मे कुन्दकुन्द भारती दिल्ली से प्रकाशित हुआ । डा० साहब ने लिखा है कि 'रयणसार का प्रारम्भिक कार्य पूज्य मुनि श्री (विद्यानन्द जी महाराज) के निर्देशन में आरम्भ हुआ था . हमने अपनी समझ से . जो पाठ निश्चित किये थे उनका मिलान स्वय मुनि श्री जी ने श्री महावीर जी मे कन्नड़ी मुद्रित प्रति के आधार पर किया था ।'

इसके उपरांत पं० बलभद्र जी ने "रयणसार" का संपादन किया जो सन् १९७९ में जयपुर से छपा। उसके आभार प्रदर्शन मे पंडित जी ने लिखा है -"पूज्य महाराज श्री (विद्यानन्दजी) का सदा मुझे आशीर्वाद और विश्वास प्राप्त रहा है। इस ग्रन्थ की मार्गदिशा मुझे आपसे ही प्राप्त हुई है। आपने इसे आद्योपान्त देखकर आवश्यक संशोधन आदि के निर्देश भी दिये।"

पं० बलभद्र जी (जो अब कुन्दकुन्द भारती के अधिष्ठाता और वहां से प्रकाशित ग्रन्थो के संपादक है।) ने उक्त ग्रन्थ के पुरोवाक् में लिखा है कि **"कुन्दकुन्द साहित्य की भाषा अत्यंत भ्रष्ट और अशुद्ध है। यह वाक्य केवल रयणसार के मुद्रित संस्करणों के ही सम्बन्ध में नहीं कुन्दकुन्द के सभी प्रकाशित ग्रन्थों के बारे में है।"**

उक्तपक्तियों को पढ़कर हमे ऐसा लगा कि डा० देवेन्द्रकुमार जी भी शायद कहीं स्खलित हुए हो। फलत: हमने दोनो प्रतियो का मिलान किया। हमें दोनो मे परस्पर पर्याप्त अन्तर मिला। हम सोचते रहे कि कुदकुंद भारती का प्रकाशन अशुद्ध कैसे हो सकता है? फिर वह डा० देवेन्द्रकुमार द्वारा संपादित भी तो है और देवेन्द्रकुमार जी प्राकृत निष्णात है।

बाद में हम जान पाये कि यह भाषा का अन्तर है। डा० देवेन्द्रकुमार के संपादन तक भाषा मे एकरूपता नही थी, पूर्ववत् स्थिति थी और बलभद्र जी के सपादन मे वह भाषा शौरसेनी का रूप धारण कर चुकी कही जा रही है। फलतः ग्रन्थ के दो रूप हमारे सामने आए और हम निश्चय न कर पाये कि दोनों के संपादनो मे किसका रूप प्राचीन आगमो की भाषा से सम्मत है/क्योकि दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदाय अंगपूर्वो की अर्धमागधी भाषा से सहमत रहे है और जैन आगमों के लिए वही प्राचीन है। शौरसेनी आदि भेद तो पश्चाद्वर्ती वैयाकरणो द्वारा प्रकट किये गये है और वे भाषाएं सार्वभौमिक नहीं, अपितु क्षेत्रीय भाषाएं है। अभी तक भी उन क्षेत्रीय भाषाओं के एकाकी सार्वजनिक ग्रंथ कहीं सुनने व देखने मे नही आये और न किसी तीर्थकर या गणधर के ही किसी एक भाषा में बंधकर बोलने का उल्लेख आया। सभी की अर्धमागधी भाषा रही और देवकृत अतिशय भी अर्धमागधी भाषा है। (जिसे दिगम्बरों में शौरसेनी बहुल (मिली जुली) के कारण जैन शौरसेनी कहा गया) यदि ऐसे मे भी शौरसेनी आदि मे से मात्र क्षेत्रीय किसी एक भाषा को दिगम्बर आगमों की भाषा घोषित कर दिया जाय तो क्या दिगम्बर आगमो और दिगम्बरो की प्राचीनता को सिद्ध किया जा सकेगा, चिन्तनीय है? स्मरण रहे कि परम्परित आचार्य भी उसी भाषा (जैन-शौरसेनी) का अनुसरण करते रहे है और इसी से उनके वचनो को प्रामाणिकता मिली है।

●●●

दिगम्बर-श्वेताम्बर भेद कैसे हुआ ?

–सुभाष जैन

जैन धर्म का मर्म

जैन धर्म के सबंध में हम अपने विचार इस प्रकार व्यक्तकर सकते है : जहाँ अनेकांत दृष्टि से तत्व की मीमांसा की गयी है, अर्थात् प्रत्येक वस्तु के अनेक पहलुओं पर विचार करके संपूर्ण सत्य की अन्वेषणा की गयी है, खंडित सत्यांशो को अखंड स्वरूप किया गया है, जहां किसी प्रकार के पक्षपात को अवकाश नही है, अर्थात् शुद्ध सत्य का ही अनुसरण किया जाता है, और जहां किसी भी प्राणी को पीड़ा पहुचाना पाप माना जाता है, वही जैन धर्म है। आचार एवं विचार संबंधी अहिंसा अर्थात् सत्य एवं स्याद्वाद का सम्मिलित स्वरूप ही जैन धर्म है।

जैन धर्म का प्रवर्तन

जैन धर्म की दिव्य ज्योति का आविर्भाव इस भूतल पर कब हुआ, इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ भी कह पाना अत्यंत कठिन है। इसका कारण यह है कि जैन धर्म का प्रवर्तन न तो किसी महापुरुष के द्वारा हुआ है, और न किसी विशेष धर्मग्रन्थ के नाम पर। यदि ऐसा होता तो जैन धर्म के उद्‌भव काल के संबंध में कुछ कहा जा सकता था। वास्तव में जैन धर्म काल के घेरे से बाहर है। सुप्रसिद्ध पादरी राइस डेविड का मत है कि जब से यह पृथ्वी है, तभी से जैन धर्म भी विद्यमान है।

काल चक्र

जैन धर्म तीर्थकरों द्वारा उपदिष्ट धर्म है। यह प्राणी मात्र के कल्याण का मार्ग दर्शाता है। जैन धर्म का यह चक्र अनादि काल से चलता आ रहा है, और इसी प्रकार अनंत काल तक चलता रहेगा। जैन धर्म मे इस अखंडित कालचक्रको दो भागों में विभक्तकिया गया है। एक भाग को उत्सर्पिणी काल और दूसरे को अवसर्पिणी काल कहते है। उत्सर्पिणी काल मे मनुष्य दुःख से सुख की ओर जाता है। इसलिए इस काल को विकास काल भी कहते है। अवसर्पिणी काल उसे कहते है जो मनुष्य को वृद्धि से ह्रास की ओर ले जाता है।

जिस प्रकार मशीन की गरारी के दो पहिए होते है, उसी प्रकार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी भी कालचक्रके दो पहियों के समान है। जिस प्रकार पहियो में आरे होते है,

उसी प्रकार कालचक्र में इन दोनो पहियों में भी छः छः आरे-माने जा सकते है। प्रत्येक आरे का नाम, उसके गुणों को दृष्टि में रखकर इस प्रकार निश्चित किया गया है :-

१. सुखमा-सुखमा अत्यन्त सुख रूप, २ सुखमा : सुख रूप, ३ सुखमा-दुखमा : सुख-दुख रूप, ४. दुखमा-सुखमा · दुख-सुख रूप, ५ दुखमा . दुख रूप, ६ दुखमा-दुखमा · अत्यंत दुख रूप ।

उत्सर्पिणी काल के आरों का क्रम ठीक उल्टा है, अर्थात् वह दुखमा-दुखमा से आरंभ होता है और सुखमा-सुखमा पर समाप्त होता है ।

भगवान ऋषभदेव

इन आरों की पारस्परिक काल सीमा इतनी बड़ी होती है कि उसे सख्याओ मे प्रकट नहीं किया जा सकता । प्रत्येक चक्र मे २४ तीर्थकर प्रकट होते है । आजकल अवसर्पिणी चक्र का युग है । हम लोग उसके पांचवे आरे में चल रहे है । इसी चक्र के तीसरे आरे मे प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव का आविर्भाव हुआ था । तीसरे आरे के समाप्त होने मे जब तीन वर्ष, आठ माह, पन्द्रह दिन शेष रह गये, वह निर्वाण को प्राप्त हो गये ।

तीर्थकर ऋषभदेव के पश्चात जव चौथे आरे का युग आया तब उसमे शेष २३ तीर्थकरो का आविर्भाव हुआ । भगवान महावीर अंतिम तीर्थकर थे । तीर्थकर ऋषभदेव ही इस काल चक्र में जैन धर्म के आदि प्रणेता और नीति निर्माता माने जाते है ।

भगवान ऋषभदेव के संबंध मे उल्लेख मिलता है कि उन्होंने एक सहस्र वर्ष तक कठिन तप करके पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया था । भगवान ऋषभदेव ही वह प्रथम महामानव थे जिन्होने उच्चकोटि की सामाजिक व्यवस्थाए स्थापित की ।

अंतिम तीर्थंकर

चौबीस तीर्थकरों में अंतिम तीन तीर्थकरों के विषय में अधिक जानकारी मिलती है । उनके नाम है तीर्थकर नेमिनाथ,पार्श्वनाथ तथा महावीर स्वामी । भगवान नेमिनाथ का जन्म शौरीपुर मे हुआ था । उनके पिता का नाम समुद्र विजय और माता का नाम शिवा था । समुद्र विजय यदुवश के प्रतापी नृपति थे । भगवान नेमिनाथ विवाह के अवसर पर ही विरक्त हो गये थे । उन्होंने गिरनार पर्वत पर कठोर तप करके केवल ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष पद प्राप्त किया ।

भगवान पार्श्वनाथ का जन्म ईसा पूर्व ८७७ काशी मे हुआ था । उनके पिता का नाम महाराज अश्वसेन और माता का वामादेवी था । महाराज अश्वसेन नागवशी नृपति थे । भगवान पार्श्वनाथ ने सत्तर वर्ष तक धर्म का प्रचार किया और सौ वर्ष की अवस्था मे उन्हे सम्मेद शिखरजी मे मोक्ष प्राप्त हुआ ।

भगवान महावीर का जन्म ईसा पूर्व ५९९ कुण्डग्राम - वैशाली मे हुआ था । उनके पिता का नाम सिद्धार्थ और माता का नाम त्रिशला देवी था । महावीर तीस वर्ष की अवस्था

में घर त्याग कर दिगम्बर मुनि हो गये थे। बारह वर्षो की तपस्या के पश्चात उन्हें केवल ज्ञान हुआ और ५२७ ईसा पूर्व उन्हें पावापुर में मोक्ष प्राप्त हुआ। उस समय उनकी आयु ७२ वर्ष की थी।

आचार्य परम्परा

भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात जैन धर्म की ज्योति आचार्य परम्परा के रूप में अविरल जलती रही। उनके गणधर गौतम स्वामी ने केवली पद प्राप्त कर १२ वर्षो तक जैन धर्म का प्रचार किया। उनके पश्चात् सुधर्माचार्य केवली पद पर प्रतिष्ठित रहे और उसके बाद इस युग के अन्तिम केवली जम्बूस्वामी ने ३८ वर्षो तक धर्म प्रचार करके मथुरा चौरासी से मोक्ष प्राप्त किया जहॉ उनके चरण चिन्ह आज भी स्थापित है।

इसके पश्चात् पाच श्रुत केवलियो का काल-क्रम इस प्रकार रहा है। आचार्य विष्णु १४ वर्ष आचार्य नन्दी मित्र १६ वर्ष आ. अपराजित २२ वर्ष, आ. गोवर्द्धन १९ वर्ष तथा श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु २९ वर्ष तक धर्म प्रचार करते रहे। सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्यने इन्ही से मुनि दीक्षा ली थी। आचार्य भद्रबाहु के गुरू का नाम गोवर्द्धन आचार्य था। श्वेताम्बर जिन आचार्य भद्रबाहु की श्रवणबेलगोला के स्थान पर नेपाल जाने की चर्चा करते है वह श्रुतकेवली भद्रबाहु से सर्वथा भिन्न थे क्योकि उन आचार्य भद्रबाहु का समय श्रुतकेवली भद्रबाहु के ४०० वर्ष बाद का है।

हरिषेण कृत कथा कोश में श्रुतकेवली भद्रबाहु का आख्यान इस प्रकार आया है कि मध्य भारत में १२ वर्ष के दुष्काल के आभास पर सभी मुनियो को दक्षिण की ओर विहार करने का परामर्श उन्होने दिया क्योकि दक्षिण में जैन परिवार सम्पन्न थे और उनकी संख्या भी अधिक थी। मुनि संघ दक्षिण की ओर विहार कर गया किन्तु राम्मिल, स्थविर और स्थूलभद्राचार्य अपने शिष्यों के साथ सिन्धु प्रान्त मे ही रह गये।

श्रुतकेवली भद्रबाहु ने (भगवान महावीर १६२ वर्ष बाद) विशाखाचार्य को आचार्य पद देकर समाधि पूर्वक श्रवणवेलगोला के चन्द्रगिरि पर्वत पर अपने शरीर का त्याग कर दिया। चन्द्रगिरि पर्वत पर उनके चरण चिन्ह स्थापित किये गये जो आज भी वहां मौजूद है। वहां से प्राप्त शिलालेखों में श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ अन्य दिगम्बर साधुओं की चर्चा कई रूपों मे अकित है। सुभिक्ष होने पर मुनि संघ विशाखाचार्य के साथ मध्य भारत वापस आ गया।

श्वेताम्बर आम्नाय का प्रचलन

स्थूलभद्राचार्य आदि ने सिन्धु देश से वापस आकर बताया कि वहां के श्रावक दुर्भिक्ष पीड़ितो के भय के कारण रात्रि मे भोजत करते थे। श्रावको के अनुरोध पर मुनि भी पात्र मे रात्रि को आहार लाकर दिन मे भोजन करने लगे। उन्होंने एक रात्रि की घटना इस प्रकार बतायी कि एक कृशकाय दुबले-पतले मुनि रात्रि के अंधेरे में आहार के लिए

जब गये तो घर की श्राविका उन्हे देख कर सहम गयी। श्रावकों के सुझाव पर साधु लोग अर्ध वस्त्र (दुपट्टा) आगे करके एक हाथ मे भिक्षा पात्र और दूसरे में लाठी लेकर जाने लगे ।

रामिल्ल, स्थविर और स्थूलभद्राचार्य ने अपने शिष्यों को आदेश दिया कि अपना अर्द्ध वस्त्र त्याग कर पूर्व की भांति नग्न हो जाय और विशाखाचार्य के समक्ष प्रायश्चित लेकर पुन नग्न साधु की क्रियाओ का पालन करे। जिनको यह प्रस्ताव रुचिकर नहीं लगा उन्होंने जिनकल्प और स्थविरकल्प का भेद करके अर्द्ध फालक सम्प्रदाय का प्रचलन किया ।

ईसा की पांचवी शताब्दी तक यह अर्ध-फालक साधु सम्प्रदाय पहले की ही तरह नग्न प्रतिमाओं को पूजते थे । पांचवी शताब्दी के अंत में बलभी (गुजरात) मे अर्ध-फालक साधुओं का अधिवेशन हुआ । उसमे उन्होने अपने स्वतंत्र आगमों की घोषणा की । इस प्रकार श्वेत वस्त्र धारी अर्ध-फालक साधु श्वेताम्बर आम्नाय के कहलाने लगे और प्राचीन मुख्य धारा के नग्न साधु दिगम्बर रूप मे ही प्रचलित रहे। इसकी पुष्टि विश्व के धर्म ग्रन्थो और संदर्भ ग्रन्थों मे अनेक रूपो मे की गई है ।

विश्व के मानक ग्रन्थों में दिगम्बरत्व की प्राचीनता

संदर्भ ग्रन्थ एनसाईक्लोपीडिया ब्रिटेनिका खण्ड-२५ ग्यारहवा सस्करण, सन् १९११ के अनुसार जैन दिगम्बर व श्वेताम्बर दो बडे समुदायों मे विभक्तहैं। **श्वेताम्बर अल्पकाल से बमुश्किल ईसा की पाचवीं शताब्दी से पाये जाते हैं जबकि दिगम्बर निश्चित रूप से वही निर्ग्रन्थ हैं जिनका वर्णन बौद्धों की पाली पिटकों (धर्म ग्रन्थों) के अनेक परिच्छेदों में हुआ है** और इसलिए वे ईसापूर्व ६०० वर्ष प्राचीन तो है ही। सम्राट अशोक द्वारा जारी राजाज्ञा के शिलालेख (२०)में निग्रन्थों का उल्लेख है ।

भगवान महावीर और उनके प्रारंभिक अनुयायियो की अत्यंत प्रसिद्ध बाह्य विशेषता थी-**उनके नग्न रूप में भ्रमण करने की क्रिया,** और इसी से **दिगम्बर** शब्द बना। इस क्रिया के विरुद्ध गौतम बुद्ध ने अपने शिष्यो को·विशेष रूप से सावधान किया था तथा प्रसिद्ध यूनानी मुहावरा 'जिमनो-सोफिस्ट' (जैन सूफी) से भी यही प्रकट होता है। मेगस्थनीज ने (जो चन्द्रगुप्त मौर्य के समय ईसा पूर्व ३२० मे भारत आये थे) इस शब्द का प्रयोग किया है । यह शब्द पूरी तरह **निर्ग्रन्थों** के लिए ही प्रयुक्त हुआ है ।

नग्न अथवा दिगम्बर सम्बोधन की पुष्टि

श्री एच. एस. विल्सन अपनी पुस्तक 'एष्सेज एण्ड लैक्चर्स आन दि रिलिजन आफ जैन्स' मे लिखते है -

जैन मुख्यतः दिगम्बर व श्वेताम्बर दो सैद्धान्तिक मान्यताओं मे विभक्त है । इनमे **दिगम्बर अधिक प्राचीन प्रतीत होते हैं** और विस्तृत रूप में फैले हुए है । दक्षिण के सभी

जैन दिगम्बर समुदाय के जान पड़ते है। यही बात पश्चिमी भारत के जैनियों की बहुलता पर लागू होती है। हिन्दुओं के प्राचीन दर्शन ग्रन्थो में **जैनियों को नग्न अथवा दिगम्बर** शब्द से संबोधित किया गया है।

दिगम्बर प्रतिमाएं ही प्राचीन हैं

एनसाईक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के खण्ड १० पृष्ठ ११ सन् १९८१ के अनुसार मथुरा से तीर्थकरो की जो प्रतिमाएं प्राप्त हुई है, वे कुशाण काल की है और उनमे यदि जिन भगवान खड्गासन मुद्रा में है तो **निर्वस्त्र (नग्न) दिगम्बर हैं** और यदि पद्मासन है तो उनकी निर्मिति इस प्रकार की है कि न तो उनके वस्त्र और न ही गुप्ताग दिखाई देते है। यद्यपि श्वेताम्बर-दिगम्बर भेद कुशाणकाल मे ही प्रारम्भ हो गया था तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय तक **दिगम्बर व श्वेताम्बर (दोनों समुदाय) तीर्थंकरों की दिगम्बर (नग्न) प्रतिमाओं की ही पूजा करते थे।**

गुजरात के अकोटा स्थान से ऋषभनाथ की अवर भाग पर वस्त्र सहित खड्गासन प्रतिमा प्राप्त हुई है वह ईसा की पाचवी शताब्दी के अंतिम काल की मानी गयी है जब कि बलभी मे हुए अंतिम अधिवेशन (कान्फ्रेन्स) से ही श्वेताम्बर मत का प्रादुर्भाव हुआ।

श्वेताम्बर विद्वानों द्वारा दिगम्बरत्व की पुष्टि

१ जैन-आचार के पृष्ठ १५३ पर डा० मोहनलाल ने लिखा है 'चाहे कुछ भी हुआ हो, इतना निश्चित है कि **महावीर प्रव्रज्या लेने के साथ ही अचेल अर्थात् नग्न हो गये** तथा अत समय तक नग्न ही रहे एव किसी भी रूप मे अपने शरीर के लिए वस्त्र का उपयोग नही किया।

२ आगम और त्रिपिटक . एक अनुशीलन मे मुनि नगराज पृष्ठ १५२ पर लिखते है कि शीत से त्रस्त होकर के (महावीर) बाहुओ को समेटते न थे, अपितु यथावत हाथ फैलाये विहार करते थे। शिशिर ऋतु मे पवन जोर से फुफकार मारता, कड़कड़ाती सर्दी होती, तब इतर साधु उससे बचने के लिए किसी गर्म स्थान की खोज करते, वस्त्र और तमाम लकड़ियां जलाकर शीत दूर करने का प्रयत्न करते, परन्तु **महावीर खुले स्थान में नग्न बदन रहते और अपने बचाव की इच्छा भी नहीं करते.......**निर्वस्त्र देह होने के कारण सर्दी-गर्मी के ही नही वे दशमशक तथा अन्य कोमल-कठोर स्पर्श के अनेक कष्ट झेलते थे।

३ तेरह पंथ के आचार्य महाप्रज्ञ ने अपनी पुस्तक तेरापथ पृष्ट-११७ पर दिगम्बरत्व की पुष्टि इस प्रकार की है कि भगवान महावीर की **प्रतिमा को कपड़े पहनाना, आभूषण से सजाना, तेल-फुलेल लगाना वीतरागता की निशानी** नहीं है क्योंकि महावीर तो सबकुछ त्याग कर अर्थात् **प्रव्रज्या लेकर नग्न हो गए** थे।

श्वेताम्बर ग्रन्थों से दिगम्बरत्व की पुष्टि

१. प्रसिद्ध श्वेताम्बर ग्रन्थ त्रिपष्टि शलाका पुरूष (आदीश्वर) चरित्र में राजा श्रेयांस द्वारा दिगम्बरत्व की पुष्टि इस प्रकार हुई है।

'स्नानांगराग नेपथ्य वस्त्राणि स्वीकरोति सः।
यो भोगेच्छुः स्वामिनस्तु तद्विरक्तस्य कि हि तैः ॥' पर्व-१, सर्ग ३, श्लोक-३१३

उपरोक्त ग्रंथ में आचार्य हेमचन्द्र जी लिखते है कि भगवान आदीश्वर ने दीक्षा लेने के पश्चात सर्व प्रथम आहार हस्तिनापुर के राजा श्रेयांस के यहां लिया उन्होने भगवान को नवधा भक्ति पूर्वक आहार दिया। यह बैसाख की तृतीया थी। आज भी श्वेताम्बरों मे इस दिन को भक्ति भाव से मानते है।

आहार के बाद जब राजा से उनकी प्रजा ने प्रश्न किया कि आदीश्वर महाराज तो नगे थे। उनके शरीर पर न कोई वस्त्र था न आभूषण। नाही वह स्नान करके आये। तब क्या कारण है कि आपने उनको इतना आदर सम्मान दिया।

राजा श्रेयांस ने प्रजा को समझाया कि **स्नान, वस्त्र अथवा आभूषण तो उन्हें चाहिए जो संसार में रमता हो। भगवान आदीश्वर तो संसार से विरक्त हैं उन्हें इनकी क्या आवश्यकता ?**

२. श्वेताम्बरो के प्रसिद्ध ग्रन्थ कल्पसूत्र से भी दिगम्बरत्व की पुष्टि होती है। **दीक्षा के दिन से भगवान महावीर एक वर्ष और एक मास पर्यन्त वस्त्रधारी रहे**। इसके पश्चात् वे **वस्त्र रहित** हो गए और **हाथों में आहार ग्रहण** करने लगे।

'समणं भगवं महावीरे सवच्छर साहियं मास जाव
चीवरधारी हुत्था। तेण पर अचेले पाणिपडिग्गहिए' .. ..

३. एक अन्य श्वेताम्बर ग्रथ 'पंचाशक मूल' - १७ मे कथन आया है आचेलक्को धम्मोपुरिमस्स या पच्छिमस्स य जिणस्स अर्थात् पूर्व के ऋषभदेव और बाद के महावीर का धर्म **अचेलक** (निर्वस्त्र) था।

इसी प्रकार अन्य कई ग्रन्थों मे भी श्वेताम्बराचार्यो ने पुष्टि की है।

श्री सम्मेद शिखरजी पर चरण चिन्ह दिगम्बरी मान्यता के अनुसार

१. विद्वान न्यायाधीश ने वाद सख्या २८८/१९९२ दि. ३१-१०-१९९६ मे स्पष्ट किया कि **बीसों टोंकों के चरण चिन्ह दिगम्बर आम्नाय की मान्यता के अनुसार हैं।**

चरण इसी स्थान पर क्यों ?

न्यायाधीश ने जब श्वेताम्वरों से पूछा कि चरण और टोंकें इन्ही स्थानों पर क्यों वनाए गए है ? श्वेताम्बरों का तर्क था कि पूरा पर्वत उनका था अतः जहॉ भी किसी भी दानी

ने चाहा वहाँ चरण और टोंकें बनवा दी, क्योकि वह उनकी निजी सम्पत्ति है। दिगम्बर जैन तो यहाँ सैलानी के रूप मे आते थे मानो वह स्थान धार्मिक और पवित्र न होकर सैर-सपाटे की जगह हो।

जब यही प्रश्न दिगम्बरो से पूछा गया तो उन्होंने बताया कि उनके शास्त्रो के अनुसार जिन देवो ने चिन्हित कर दिया था वही भगवान के चरण चिन्ह स्थापित कर टोके बनाई गई। विद्वान न्यायाधीश ने निर्णय में कहा कि स्थान की निश्चितता इस बात का प्रमाण है कि **वे सभी स्थल दिगम्बरों की प्राचीन मान्यता के पूजनीय स्थल हैं। उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया कि वहाँ अगर चबूतरे, टोंकें या चरणचिन्ह न भी होते तो भी उक्त स्थल दिगम्बरों द्वारा अवश्य पूजे जाते।**

उपरोक्त सभी प्रमाणो से सिद्ध होता है कि श्वेताम्बर ईसा की पाचवी शताब्दी के अंत मे मुख्य जैन धारा से अलग हुए है क्योंकि पाचवी शताब्दी के अत तक वह भी दिगम्बर प्रतिमाओ की पूजा-अर्चना करते थे। स्पष्ट है कि जैन धर्म की मुख्य धारा के मानने वाले ही दिगम्बर है, इसलिए श्री सम्मेद शिखरजी सिद्ध क्षेत्र मूलरूप मे दिगम्बरो का ही है। जिसकी पुष्टि विभिन्न न्यायालयो द्वारा अनेक बार की गई है।

हमारा श्वेताम्बर बन्धुओ से आग्रह है कि श्री सम्मेद शिखरजी के विषय मे पुन विचार कर भगवान महावीर के अहिसा सिद्धान्त पर चलकर निर्णय ले और सामाजिक सौहार्द के अन्तर्गत मिल जुल कर वहां की व्यवस्था मे योगदान दे ताकि तीर्थराज का सही अर्थो मे विकास किया जा सके। इससे उन लाखो यात्रियों की यात्रा निरापद हो जायेगी, जो पर्वत की अव्यवस्था के कष्ट झेल रहे है।

मंत्री, श्री सम्मेद शिखरजी आन्दोलन समिति
जैन बालाश्रम, दरियागज, नई दिल्ली - ११० ००२

●●●

मूर्तिपूजक श्वेताम्बरो ने पारसनाथ पर्वत पर प्राचीन–काल की २० तीर्थकरो की टोंको के अतिरिक्त उन चार तीर्थकरो की नई टोंके भी बना दी हैं जो इस पर्वत से मोक्ष ही नहीं गए। यह कार्य तीर्थ की प्राचीनता पर प्रश्नचिन्ह लगाता है, क्योंकि **यह कृत्य धर्म विरुद्ध है।**

गोल्ला देश

--रामजीत जैन एडवोकेट

वर्तमान मे जिस अन्वय को गोलालारे नाम से सम्बोधित किया जाता है, मूर्तिलेखों, यंत्रलेखो और ग्रन्थ प्रशस्तियो मे उस अन्वय का मूलनाम ''गोलाराड़'' है। राड शब्द राष्ट्र वाची है, राज उसी का अपभ्रश रूप है। इसमे ऐसा अनुमान होता है कि प्राचीन काल मे भारतवर्ष के भीतर कोई ऐसा देश या प्रदेश रहा है, जो अतीन में गोल्लादेश या गोल प्रदेश कहा जाता रहा है ॥ १ ॥

यत्र लेख ''सं १४७४ माघ १३ गुरौ मूलसघे गोला राडान्वये सा लम्पू पुत्र नरसिह इद यत्र प्रतिष्ठापितं।''

गोलालाढ़ के समीप रहने वाले गोलालारे कहलाते है। इसके निकास का स्थान गोलागढ़ है। गोलाराडान्वय मे खरौआ एक जाति है ॥ २ ॥

गोलश्रृंगार -गोलागढ़ से सामूहिक रूप से निवास करने वालों मे उसके श्रृगार कहलाते है। यदि श्रृंगार शब्द का अर्थ सहज अभिप्राय को व्यक्त करना ठीक माना जाए तो वे उसके भूषण कहला सकते है ॥ ३ ॥

गोलदेश या प्रदेश, गोलालाड अथवा गोलागढ़ समान अर्थवाची गोलादेश से ही सम्बन्धित है और गोलालारे, गोलश्रृंगार व खरौआ से सम्बंधित है इसलिए सबका सन्दर्भ लेकर ही कथन करना उपयुक्त होगा। गोला पूर्व जाति में इसी से सम्बधित होने से आवश्यकतानुसार सन्दर्भ लिखा जावेगा।

॥ देवकीर्ति - पट्टावली (शक सम्वत् १०८५) ॥

इत्याद्युमुनीन्द्र सन्तति निधौ श्री मूलसंघे ततो,
जाते नन्दिगण-प्रभेद विलसद्देशीय गणे विश्रुते।
गोलाचार्य इति प्रसिद्ध-मुनियांणभृद्‌गोल्लदेशाधिमः,
पूर्वकेन च हेतुना भवभिया दीक्षा गृहीतस्सुधी ॥ ४ ॥

गोलाचार्य मूलसंघान्तर्गत नंदिगण से प्रसूत देशीयगण के प्रसिद्ध आचार्य थे, और गोल्लाचार्य मूल नाम से विख्यात थे यह गृहस्थ अवस्था मे पहले गोल्लादेश के अधिपति

(राजा) थे और नूतन चंदिल नाम के राजवंश मे उत्पन्न हुए थे। जिन्होंने किसी कारण वश संसार से भयभीत हो, राज्य का परित्याग कर जिन दीक्षा ले ली थी। और तपश्चरण द्वारा आत्मसाधना में तत्पर थे। वे श्रमण अवस्था मे अच्छे तपस्वी और शुद्ध रत्नत्रय के धारक थे। सिद्धान्तशास्त्र रूपी समुद्र की तरंगो के समूह से जिन्होंने पापों को धो डाला था। इनके शिष्य विकल्प योगी थे। इनका समय सभवत· दशवी शताब्दी है ॥ ५ ॥

मेघचन्द्र प्रशस्ति (शक सम्वत् १०३७)

श्री गोलाचार्यनामा समजनि मुनिपश्शुद्धरत्नत्रयात्मा
सिद्धात्माधश्र्य-सार्थ-प्रकटनपटु-सिद्धान्त-शास्त्राब्धि-बीची
संडगाःतसालितांहः प्रमदमदकलालीढ़ बुद्धि प्रभाव.
जीयादभूपाल-मौलि-द्युमणि-विदलिताङ्घ्रिपब्ज लक्ष्मे विलास ॥
पोर्ग्गडे चावराजे नेरदंमडल ॥
वीरणन्दि विनुधेन्द्रसन्ततौ मूल चंदिल नरेन्द्रवश-
चूडामणिः प्रथित गोल्लेदेश भूपालक· किमपि करणेम सः ।

इन पत्तियो मे भी गोल्लाचार्य से सम्बंधित वही आशय है जो पहिले लिखा है।

उपरोक्त विवरण से यह परिलक्षित होता है कि भारत वर्ष में किसी काल में गोल्लादेश नामक देश का राजा किन्ही कारणो से संसार से भयभीत हो गया और जिनदीक्षा ले ली। दीक्षा उपरांत गोल्लाचार्य नाम से प्रसिद्ध हुए। परन्तु यह स्पष्ट नही कि गोल्लादेश कहॉ था उसका कौन शासक ने जिन दीक्षा ली।

श्री यशवंत कुमार मलैया ने एक अप्रकाशित लेख "गोल्लादेश व गोल्लाचार्य की पहचान मे बताया है कि आठवीं शताब्दी मे उधोतन सूरी द्वारा रचित "कुवलयमाला कहा" मे अठारह देश की भाषाओं का उल्लेख मिलता है तथा अन्य ग्रन्थों व चूर्णिसूत्रो में भी यह नाम आते है। परन्तु शिलालेख व भूगोल पुस्तको मे इसका उल्लेख नहीं मिलता। साथ ही यह भी लिखा है कि गोल्लादेश के स्पष्ट उल्लेख केवल श्रवणवेलगोला में पाये जाते है उनमे गोल्लाचार्य नाम के मुनि का उल्लेख है। आगे उन्होंने लिखा है कि यह वही स्थान है जहॉ से गोलापूर्व, गोलालारे व गोलसिघारे जैन जातियॉ निकली हैं।

श्री मलैया ने उक्त लेख में भाषागत वर्गीकरण करके गोल्लादेश की पहचान सीमा– "वह भाग है जहाँ व्रज और बुन्देलखण्डी भाषा बोली जाती है।" दोनों पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत है व आपस में काफी समान है। अतः प्राचीन गोल्लादेश की पहचान वही होना चाहिए। तदनुसार गोल्लादेश का विस्तार उत्तर दक्षिण मे भिण्ड से सागर जिले के उत्तरी भाग तक रहा। इसमे चन्देलो की राज्य सीमा खजुराहो, महोबा, कालंजर, के अलावा भेलसा, मऊ (जिला झासी) तथा अस्थाई विस्तार उत्तर पश्चिम में कान्यकुब्ज व अहिछत्र तक रहा, तथा ग्वालियर, भिण्ड के आसपास भी रहा। बुन्देलखण्ड का क्षेत्र जहॉ बुन्देलों का राज्य रहा - दतिया, टीकमगढ़, छतरपुर, पन्ना जिले सागर और दमोह जिलों के उत्तरी

भाग, उत्तर प्रदेश में झांसी, हमीरपुर व बाँदा, जिले इसके साथ ही भिण्ड, इटावा, व आगरा जिले। इनकी भाषा गोल्लाभाषा के अन्तर्गत होने से गोल्लादेश कहा जाता रहा होगा।

यह अनुमान सही हो सकता है- परन्तु यह बात सन्देहास्पद लगती है कि इतनी बडी राज्य सीमा (व्रज, बुन्देलखण्ड) का गोल्लादेश नाम इतिहास, हिन्दी साहित्य व भूगोल में न आवे। गोल्लाचार्य मुनि का काल दसवीं शताब्दी का बताया जाता है। और जैन साहित्य भी इतनी बड़ी घटना को छिपाये रखा। चन्द्रगुप्त का जैन होना जैन साहित्य व इतिहास बड़े गर्व से प्रकट करता है, परन्तु गोल्लादेश के किसी राजा के जिनदीक्षा लेने के बारे मे प्राय: खामोश है। विशेषतया उस स्थिति मे जबकि गोल्लाचार्य मुनि बडे तपस्वी, शास्त्रज्ञ थे। दसवी शताब्दी के समय के चन्देल वंश के राजा तक का नाम मालूम नही हो सका। डा० ज्योतिप्रसाद जैन ने " भारतीय इतिहास एक दृष्टि" लिखा है उसमे समस्त जैन घटनाओ, जैन मुनियो, विद्वानो, श्रेष्ठी पुरुष, जैन धर्म के प्रति उदार शासको दानी पुरुषो का उल्लेख किया है। परन्तु उसमे न तो गोल्लाचार्य का नाम है और न गोल्लादेश का। चन्देलवश के वर्णन मे भी किसी राजा के जैन दीक्षा लेने की घटना नहीं है।

दूसरा कारण मलैया जी ने बताया है कि गोला पूर्व गोलालारे, गोलसिंगारे जाति की उत्पत्ति स्थान गोल्लादेश है, और जातियाँ अपने मूल स्थान मे भी रहती है। क्योंकि इन जातियों का मूल स्थान भी यही है, इसलिए भी गोलादेश यही होना चाहिए। परन्तु यह सर्वमान्य हल नही है। यह कहा जाता है कि जैन मुनि व जैन व्यापारी एक स्थान पर नही रहते। तब फिर यह पता लगाना पड़ेगा कि यहा से फिर कहां गये। ये जातियॉ आज भी इसी देश (व्रज, वुन्देलखण्ड) में रहती है और पहिले भी रहती थीं। सौराष्ट्र के निवासी सौराष्ट्रवासी और भारत के निवासी भारतवासी कहलाते है। इनमे रहने वाली विभिन्न जातियो के उद्गम् स्थान अलग है। भारत मे मुसलमान, ईसाई, पारसी रहते हैं तथा अलग -अलग स्थानो से आए है परन्तु भारतवासी हो गये। परन्तु गोलादेशीय कोई नहीं हुआ।

तीसरी बात यह है कि जब कलकत्ते का रहने वाला कलकत्ता से बाहर जावेगा तब उसे कलकत्ते वाला या कलकत्तिया कहेंगे। कलकत्ते मे ही उसे कलकत्ते वाला नही कहेंगे। गोलादेश के रहने वाले गोलादेश में ही गोलालारे, गोल सिंगारे या गोल्ला पूरव नहीं कहे जा सकते। अगर ऐसा होता तो यहां पर अन्य जातियॉ भी इसी नाम से सम्बधित मानी जाती।

महाभारत काल मे यह क्षेत्र गोपराष्ट्र कहलाता था। क्योंकि इसमे यादवों का प्रभुत्व व शासन था। यादव गोपालक कहे जाते है। अतः गोपराष्ट्र से गोलादेश मे परिवर्तन का कारण दृष्टिगोचर नही होता। गोप, ग्वाला एक ही नाम के द्योतक है।

परन्तु ऊपर पट्टावलियों व प्रशस्तियो मे गोल्लादेश आया है इसकी कल्पना का आधार होना चाहिए। हमारी दृष्टि मे यह प्रशंसात्मक एवं विशेषणयुक्त शब्द प्रतीत होता है।

श्रवणवेलगोल वह कर्नाटक प्रान्त का भाग जहाँ जैन जाति की पच्चीस सौ वर्ष की सभ्यता का इतिहास अंकित है। यहा की भूमि अनेक मुनि महात्माओं की तपस्या से पवित्र, अनेक नरेशो और सम्राटो के दान से अलकृत है।

श्रवणवेलगुल का अर्थ-श्रमण नाम जैन मुनि और वेल्गुल कन्नड़ी भाषा के "वेल" औ गुल (गोला) कोल का अपभ्रश है जिसका अर्थ है सरोवर। इस प्रकार इसका अर्थ जैन श्रमणो का धवल सरोवर। यह गोलश्रंगार का स्पष्ट प्रतीक है। यहां के निवासी गोलश्रंगार कहलाये जो अब गोलसिंगारे कहे जाते है।

श्रमणवेलगोल ग्राम मैसूर प्रान्त मे हासन जिले के चेन्नरायपाटन ताल्लुके मे दो सुन्दर पहाडियो चन्द्रगिरि और विन्ध्यागिरी के बीच मे वसा है। इस गॉव के बीचोबीच एक रमणीक सरोवर है जिसका प्राचीन उल्लेख श्वेत सरोवर धवलसर व धवल सरोवर है। यहा के निवासी धवल, श्वेत अथवा श्रेष्ठ कहलाये, क्योंकि यहाँ की भूमि मुनियो की तपस्या से पवित्र है। इसलिए गोलश्रगार नाम से प्रसिद्धि पाई इसका अपभ्रश वर्तमान मे गोलसिघार हो गया।

यहाँ पर ससार की सर्वश्रेष्ठ बाहुबलि की मूर्ति है जिसे गोम्मटेश्वर कहते है। इसके निर्माण की जानकारी से स्थिति स्पष्ट होगी। श्रवणवेलगोला के लेख न० ८५ (२३४) मे बताया गया है - इसके अनुसार गोम्मटपुर देव अपरनाम ऋषभदेव प्रथम तीर्थकर के पुत्र थे। इनका नाम वाहुवलि या भुजवलि भी था। इनके ज्येष्ठ भ्राता भरत थे। ऋषभदेव के दीक्षा धारण के उपरान्त भरत और बाहुवलि दोनो भाईयो मे राज्य के लिए युद्ध हुआ जिसमे वाहुवलि की विजय हुई। पर ससार से गति से विरक्तहो उन्होने राज्य अपने ज्येष्ठ भ्राता को दे दिया और तपस्या हेतु वन को चले गये। थोडे ही काल मे घोर तपस्या कर उन्होने कैवल्य ज्ञान प्राप्त किया भरत ने जो अब चक्रवर्ती राजा हो गये थे, पोदनपुर में उनकी शरीराकृति के अनुरूप ५२५ धनुष की प्रतिमा स्थापित कराई। समयानुसार मूर्ति के आस पास का प्रदेश कुक्कुट-सर्पो से व्याप्त हो गया जिससे मूर्ति का नाम कुक्कटेश्वर पड गया। धीरे-धीरे वह मूर्ति लुप्त हो गयी और उसके दर्शन केवल दीक्षित व्यक्तियो को मत्र शक्तियो से प्राप्त हो गये। चामुण्डराय मत्री ने इस मूर्ति का वर्णन सुना और उसके दर्शन करने की अभिलाषा हुई। पर पोदनपुर की यात्रा अशक्य जान उन्होंने उसी के समान स्वय मूर्ति स्थापित करने का विचार किया और तदनुसार इस मूर्ति का निर्माण कराया। भुजवलि चरित्र मे यही वर्णन कुछ हेर फेर से दिया है। परन्तु यह इस लेख के विषय के लिए उसकी आवश्यकता नही है।

इसके पश्चात् अभिषेक की तयारी हुई। पर जितना भी दुग्ध चामुण्डराय ने एकत्रित कराया उससे मूर्ति की जघा से नीचे के स्नान नही हो सके। चामुण्डराय ने घबराकर गुरु की सलाह ली। उन्होंने आदेश दिया कि जो दुग्ध एक वृद्धा स्त्री अपनी "गुल्लिकाय" (गोल लुटिया) मे लाई है उससे स्नान कराओ। आश्चर्य कि उस अल्पस दुग्ध धारा के

गोम्मटेश के मस्तक पर छोड़ते ही समस्त मूर्ति के स्नान हो गये और सारी पहाड़ी पर दुग्ध बह निकला। उस वृद्धा स्त्री का नाम इस समय से "गुल्लिका वज्जि" पड गया। इसके पश्चात चामुण्ड राय ने पहाडी के नीचे एक नगर बसाया। चामुण्डराय के गुरू अजित सेन ने गुल्लिकाय के दुग्ध से स्नान होने के कारण, उस नगर का नाम "बेलगोल" रखा और उस "गुल्लिकाय वज्जि" स्त्री की मूर्ति स्थापित की गई। चामुण्ड राय गंग नरेश राचमल्ल के मंत्री थे। राचमल्ल के राज्य की अवधि सन् ९७४ से ९८४ तक बांधी गई है अत. गोमटेश्वर की स्थापना इसी समय के लगभग होना चाहिए।

गोम्मटेश्वर की दोनो बाजुओं पर यक्ष और यक्षिणी की मूर्तिया है। मूर्ति के बाई ओर एक गोल पाषाण का पात्र है जिसका नाम ललित सरोवर है। मूर्ति के अभिषेक का जल इसी मे एकत्रित होता है। इस पाषाण पात्र के भर जाने पर यह अभिषेक का जल एक प्रणाली द्वारा मूर्ति के सम्मुख एक कुएं में पहुंच जाता है और वहा से वह मंदिर की सरहद के बाहर कन्दरा मे पहुँचा दिया जाता है। इस कन्दरा का नाम "गुल्लिकायज्जि वालिलु" है।

शिलालेख नं० ७४ (१८०) व ७६ (१७७) से विदित होता है कि गोम्मटेश्वर का परकोटा गंगराज ने निर्माण कराया। इस परकोटे के एक दरवाजे का नाम "गुल्लिकायज्जि वागिलु" है।

गुल्लिका के कारण वृद्धा स्त्री का नाम "गुल्लिकायज्जि" तथा उसकी मूर्ति, गुल्लिकायज्जि वागिलु कन्दरा, गुल्लिकायज्जिवाग्गिल दरवाजा होने से यह स्थान गुल्लिकामय यानी एक गुल्लिका नगर जैसा हो जाने से प्रशंसा रूप मे गोल्लादेश की संज्ञा दिया जाना प्रतीत होता है। और इस स्थान का कोई विशिष्ठ व्यक्ति जिनदीक्षा धारण करने पर गोल्लाचार्य विशेषण से प्रसिद्ध हो जाना प्रतीत होता है।

स्पष्ट रूप से तो नही, पर संभावना यह होती है कि इसी गोलादेश के निकट रहने वाले गोलालारे नाम से प्रसिद्ध हुए हो और यहाँ से गंगवंश के राजा शक्ति क्षीण होने पर भिण्ड इटावा की ओर आ गये हों। क्योकि राजमल्ल राज नरेश के पश्चात् गंगवंश राज्य का अंत चोलो के आक्रमण के कारण समाप्त हो गया। और यह भी सभव है कि श्रवण बेलगोल के परकोटे को गोलाकोट या गोयलगढ़ नाम दिया है। क्योंकि बाहुबलि ऋषभदेव के पुत्र थे। इसी बात को ध्यान में रखते हुए नवलशाह चन्दैरिया ने अपने वर्धमान पुराण में लिखा है। कि आदीश्वर जिनेश के उपदेश से गोयलगढ के पूर्व के निवासी जैन धर्मानुयायी हुए और गोला पूरब कहलाये।

इस पकार गोल सरोवर के लोग गोल श्रगार गोलादेश के निकट के लोग गोलालारे अथवा गोलादेश/गोलाराड के निवासी गोलाराड़ गोला कोट या गोयलगढ के पूर्व के लोग गोलापूरब कहलाये है।

इस बात की पुष्टि इससे भी होती है कि गोलापूरव गोलालारे व गोलसिघारे अपने को इक्ष्वाकुवंशी कहते है। और मैसूर राज्य पर गंगवंश का राज्य रहा जो इक्ष्वाकुवंशी थे। डा० ज्योति प्रसाद जैन ने "भारतीय इतिहास एक दृष्टि में" लिखा है -"इस वश (गंगवश) के नरेशो के शिलालेखों व ताम्रपत्रों से, साहित्यिक आधारो एवं जनश्रुतियो से ज्ञात होता है कि अयोध्या में तीर्थकर ऋषभ के इक्ष्वाकुवंश में राजा हरिश्चन्द्र हुए जिनके पुत्र भरत की पत्नि विजय महादेवी से गंगदत्त या गंगेय का जन्म हुआ। उसी के नाम से यह वंश गंगवंश कहलाया।

गोलालारे समाज द्वारा प्रतिष्ठापित हतिकान्त की मूर्तियों मे "वर्मन" व "सिंह" नाम मिलते है। गंगवंश के राजाओ के नाम भी वर्मन और सिह है। इस प्रकार समानता प्रतीत होती है कि गोलालारे, गोलसिंगारे और गोलापूरव श्रवण वेलगोला के मूल निवासी है और वहा से ही व्रज बुन्देलखण्ड मे आकर बस गये। श्रवणवेलगोल प्रदेश ही गोलादेश है।

टक्साल गली, दानाओली
लश्कर - ग्वालियर ४७४००१
(मध्य प्रदेश) भारत

संदर्भ :-

१ डा० दरवारीलाल कोठिया अभिनन्दन ग्रन्थ - लेख गोलापूर्वान्वय प० फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री।
२ अनेकान्त जून १९६९ लेख "जैन उपजातिया" प० परमानन्द शास्त्री।
३ अनेकान्त जून १९६९ लेख "जैन उपजातिया" पं० परमानन्द शास्त्री।
४ तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा लेखक डा० नेमीचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य पृष्ठ ३८३।
५. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग २ प० परमानन्द शास्त्री पृष्ठ २३९ गोल्लाचार्य
६ जैन शिलालेख संग्रह – प्रकाशन मणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला लेखक हीरालाल (श्रवणवेलगोल स्मारक भूमिका मे।
७ भारतीय इतिहास एक दृष्टि - डा० ज्योति प्रसाद जैन पृष्ठ २५७ (गंगवंश)।

●●●

रानी रूपमती पुरातत्व संग्रहालय सारंगपुर की जैन प्रतिमाएं

नरेश कुमार पाठक

सारगपुर मध्य प्रदेश के राजगढ जिले का तहसील मुख्यालय है, यह आगरा-वम्वई राष्ट्रीय राजमार्ग क्रमाक तीन पर अवस्थित है जो इन्दौर से १२० कि०मी० की दूरी पर अवस्थित है। यहा पर प्राचीन टीले, रूपमती-बाजबहादुर का मकवरा, गोल गुम्बद, लाल गुम्बद, जैन खा की भट्टी, पीर मासूम की दरगाह, जामा मस्जिद, किला दरवाजा, लाल हजुरया, अठारह खम्बा, छनिहारी, पनिहारी, कपिलेश्वर मदिर, जैन मदिर आदि प्राचीन एव प्रदर्शनीय स्थल है। सारगपुर शहर मे आगरा-बम्वई मुख्य मार्ग पर पुराने वस स्टैण्ड पर रानी रूपमती पुरातत्व संग्रहालय है। इस सग्रहालय मे अभिलेख सिक्के, धातु की प्रतिमा, आभूषण, औजार, उर्दू मे लिखा तावीज, चीनी मिट्टी के बर्तन के टुकडे, मृदभाण्डो के टुकड़े, स्फटिक व काच के टुकड़े, मिट्टी एवं पत्थर के सांचे, हड्डी के तीर, हाथी दाँत के तोरक चक्र, बटन, शंख के टुकडे, कांच की चूड़िया, मिट्टी के गुरिये, पत्थर की गोलियां, रंगीन पत्थर के मनके, काच के मनके, ईट आदि है। मृण मूर्तियो मे पुरुष मस्तक स्त्री मस्तक, हाथी मस्तक व सूड, वकरा का सिर, ऊट का सिर, कुत्ते का सिर, घोडे का सिर आदि उल्लेखनीय मूर्तिया है। पाषाण प्रतिमाओ मे शैव, शाक्त, वैष्णव, व्यन्तर, विविध, जैन एव बौद्ध प्रतिमाओ का सग्रह है। शैव प्रतिमाओ मे त्रिमूर्ति शिव, भैरव, उमा-महेश्वर, वैजनाथ शिव, गणेश व नदी प्रतिमा, शाक्त प्रतिमाओ मे लक्ष्मी, गौरी, वैष्णवी एवं सप्त मातृकाए, वैष्णव प्रतिमाओ मे विश्वरूप, कृष्ण अवतार, रामअवतार, विष्णु एव ब्रह्मा की प्रतिमाएं है। व्यन्तर मूर्तियो मे सूर्य, नवगृहपट्ट, कुबेर एव वायु की प्रतिमाएं, विविध मूर्तियो मे नृत्य, दृश्य, वासुरी वादक, प्रेमीयुगल, सुर सुन्दरी, विद्याधर, योद्धा, कीचक नारी एव पुरुष प्रतिमाएं, जैन प्रतिमाओ मे तीर्थकर, तीर्थकर सिर, यक्षी, अम्बिका एव सर्वतोभद्रिका प्रतिमाएं, बौद्ध प्रतिमाओ मे बौद्धमस्त्व अवलोकितेश्वर एव बुद्ध मस्तक है। इस सग्रहालय मे पन्द्रह जैन प्रतिमाएं सुरक्षित सभी सारगपुर से प्राप्त हुई है। जिनका विवरण निम्नानुसार है -

तीर्थंकर सग्रहालय मे लाछन विहीन तीर्थंकर की छ प्रतिमा सुरक्षित है। जिनमे तीन पद्मासन मुद्रा मे है। पद्मासन मुद्रा मे अंकित प्रथम दसवी शती ईस्वी की ३१×२५×८

से.मी आकार की तीर्थंकर प्रतिमा लाल बलुआ पत्थर पर निर्मित है। (सं क्र० ३८) वक्षस्थल पर श्रीवत्स, चेहरा घिसा है। पादपीठ पर दाये-बायें द्विभंग मुद्रा में चामर धारिणी है। प्रतिमा जैन मंदिर के अलंकरण हेतु प्रयुक्त की गई होगी। द्वितीय, ग्यारहवी शती ईस्वी का किसी जैन प्रतिमा का दाया परिकर भाग है। (स० क्र० ४६) जिसमें प्रथम दांयी ओर नीचे अस्पष्ट जाल्वर ऊपर मकर व्याल उसके ऊपर पुरुषाकृति है। द्वितीय भाग मे पद्मासन मुद्रा मे तीर्थंकर ऊपर मालाधारी विद्याधर है। समीप ही नारी प्रतिमा है। तृतीय सोलहवी शती ईस्वी की १९×१४×६ से मी आकार की बेसाल्ट प्रस्तर पर निर्मित प्रतिमा मे तीर्थंकर पद्मासन मे बैठे हुए है। (स० क्र० ५८) तीर्थंकर का मस्तक नही है। पीठिका पर एक पंक्ति का लेख है "श्री महा श्री विजय सेन सूरि" अंकित है।

कायोत्सर्ग मुद्रा मे निर्मित प्रथम ३५×३१×१२ से मी आकार की तीन मानव कृतिया उत्कीर्ण है। (स० क्र० ६१ बी) दाये प्रथम मालाधारी विद्याधर, द्वितीय मे कायोत्सर्ग मुद्रा मे तीर्थंकर तृतीय अस्पष्ट है। द्वितीय १६×१४×६ से मी आकार की प्रतिमा ऊपर पद्मासन मे नीचे कायोत्सर्ग मुद्रा मे तीर्थंकर है। (स० क्र० ६१ डी) ऊपरी प्रतिमा का चेहरा कटा हुआ है। नीचे वाली प्रतिमा के वक्ष से नीचे का भाग कटा हुआ है। तृतीय ११×६×३ से मी. आकार की लाल प्रस्तर पर निर्मित किसी जैन तीर्थंकर की कायोत्सर्ग मुद्रा मे छोटी प्रतिमा है। (स० क्र० ७८ बी) इसका चेहरा तथा केश विन्यास वाला भाग खण्डित है।

तीर्थंकर मस्तक संग्रहालय मे सात तीर्थंकर मस्तको का संग्रह है। प्रथम नौवी शती ईस्वी का १७×१३×९ से मी आकार का किसी तीर्थंकर प्रतिमा का मस्तक है। (स० क्र० १२) सौम्यरूप मे तीर्थंकर के कुण्तलित केश दृष्टिगत है। मस्तक पूर्णरूप से सिन्दूर से पुता है। द्वितीय ग्यारहवी शती ईस्वी का ३५×२०×२० से मी आकार का तीर्थंकर प्रतिमा का मस्तक भाग है। (स० क्र० १३) जिसमे कुन्तलित केश भाग एव मुखमुद्रा ही दृष्टिगत है। मस्तक सिन्दूर से अत्यधिक पुता हुआ है। तृतीय ग्यारहवी शती ईस्वी का ३०×१५×१२ से.मी आकार का लाल बलुआ पत्थर पर निर्मित तीर्थंकर प्रतिमा का मस्तक भाग है। (स० क्र० २९) सिर पर कुन्तलित केश, मुख पर सिन्दूर पुता है ठोड़ी का भाग भग्न अवस्था मे है। चतुर्थ ग्यारहवी शती ईस्वी के २३×११×१५ से मी. आकार का लाल बलुआ पत्थर पर निर्मित तीर्थंकर प्रतिमा का मस्तक है। (स० क्र ३०) सिर पर कुन्तलित केश, चेहरा स्थान-स्थान पर घिसा है, सिर का ऊपरी आधा भाग कटा हुआ है। इस स्थान पर सिंदूर का लेप है। पंचम ग्यारहवी शती ईस्वी का १८×१२×७ से.मी. आकार का तीर्थंकर मस्तक है (स० क्र० ३१) सिर पर कुन्तलित केश, ग्रीवा का निचला भाग भग्नावस्था मे है। मुख पर घिसे होने के निशान है। षष्टम चौदहवी शती ईस्वी का ३४×२३×१२ से मी आकार का दानेदार काले पत्थर पर निर्मित तीर्थंकर प्रतिमा का मस्तक है (स०क्र० ३२) सिर पर कुन्तलित केश है। प्रकृति के प्रकोप से प्रतिमा काफी घिस गयी है। सप्तम ८×५×६ से मी आकार का सफेद संगमरमर पत्थर पर निर्मित

आधुनिक तीर्थकर प्रतिमा का मस्तक भाग है। (सं० क्र० ७७ ए.) सौम्य मुद्रा में तीर्थकर केश विन्यास दृष्टिगत है। मुख सिन्दूर से पुता है।

अम्बिका : तीर्थकर नेमिनाथ की शासन यक्षी अम्बिका की प्रतिमा काले रंग के दानेदार पत्थर पर निर्मित है, जो पत्थर के क्षरण के कारण घिसी हुई प्रतीत होती है (सं० क्र० ७) प्रतिमा का ऊपरी भाग भग्न है, बायें भाग में आम्र डालियाँ दृष्टिगत होती है। आठवीं-नौवीं शती ईस्वी की प्रतिमा का आकार ३८×२६×९ से.मी. है।

सर्वेतोभद्रिका · इस सर्वेतोभद्रिका प्रतिमा मे चारो ओर पद्मासन में तीर्थकर प्रतिमा अंकित है। (सं० क्र० २५) जिनके वक्ष पर श्रीवत्स चिन्ह तथा सिर पर कुन्तलित केश हैं। दाये बायें चंवरधारी इसी के नीचे ललितासन मे द्विभुजी नारी प्रतिमा है, जो सम्भवतः सबंधित तीर्थकर की शासन देवी हो सकती है। शासन देवी सर्वेतोभद्रिका में तीन ओर दृष्टिगत है। ऐसा प्रतीत होता है कि चौथी ओर भी रही होगी लेकिन भग्न हो चुकी है। ३४×१९×१९ से मी. आकार की लाल बलुआ पत्थर पर निर्मित ग्यारहवीं बारहवीं शती ईस्वी की है।

संग्रहालयाध्यक्ष
जिला संग्रहालय शिवपुरी

●●●

तथ्य क्या है ?

'तीर्थकर पत्रिका फरवरी सन् १९९५ पृष्ठ १८ पर संपादक ने लिखा है-''मूडबिद्री के भट्टारक जी से मौखिक समालाप हुआ। वे चिंतित तो है किन्तु उनकी चिन्ता उतनी ही औपचारिक निर्जीव और निस्तेज है जितनी अन्यो की। वे भट्टारकों को मुनियो मे श्रेष्ठ मानते है। उनका कहना है कि आज के मुनिजन भट्टारकों से अधिक नही है।''

उक्त प्रसंग मे अभी तक कोई प्रतिवाद पढ़ने मे नहीं आया। अब तक तो हम मुनियों को सर्वोच्च पद देने के पक्षपाती रहे है। **धर्म—रक्षक मार्ग—दर्शन दें।**

अनादि मोह ग्रन्थि के क्षय का उपाय

-डा० राजेन्द्र कुमार बंसल
अमलाई (म०प्र०) ४८४११७

आत्मा, वस्तु-स्वरूप एवं विश्व के विराट स्वरूप को देखने हेतु विराट नेत्रो की आवश्यकता होती है। विराट नेत्र क्या है और कैसे उनसे देखा जा सकता है। भगवान महावीर कहते है - वस्तु स्वरूप के समस्त अंशो को जानने वाला प्रमाण ज्ञान ही विराट-नेत्र है। इस प्रमाण - ज्ञान के एक अश का ग्रहण या कथन किया जाता है तव वह नय दृष्टि कहलाती है। *जो व्यक्ति विशाल हृदय से अनाग्रही होकर विविध नयों या दृष्टिकोणों* से वस्तु स्वरूप को देखता है, वही विराट सत्य का दर्शन कर पाता है।

स्व-समय एवं पर-समय

"जितने वचन मार्ग है उतने ही नय वाद है और जितने नय वाद है उसमे ही पर समय होते है (धवल १-१-९ गाथार्थ १०५, पृष्ठ १६३)।" अध्यात्म ग्रन्थो में पर-समय और स्व-समय का प्रयोग हुआ है। अपने ज्ञायक स्वभाव से भिन्न क्रोधादि मनोविकारों तथा पर वस्तुओं को अपना मानकर इष्ट-अनिष्ट भाव से उनमें अपना ज्ञान-दर्शनात्मक उपयोग लगाना पर-समय है। इसी प्रकार वस्तु स्वरूप को यथार्थ ग्रहण कर उसके किसी एक विशेष पक्ष या नय को सर्वथा सत्य मान लेना पर-समय है। अपने ज्ञाता और साक्षी स्वभाव-रूप ज्ञाता-दृष्टा भाव पर अपना उपयोग लगाना तथा अनाग्रही बनकर अनेकान्त रूप से विराट बोध करना स्व-समय है। जो व्यक्ति पदार्थो के स्वरूप को यथावत् ग्रहण करता हुआ, किसी पक्ष विशेष का अनाग्रही होकर नयातीत-विकल्पातीत स्थिति मे ज्ञायक-ज्ञायक, होने रूप मात्र ज्ञायक हो जाये" तभी आत्मानुभूति या स्वानुभूति होती है। यह स्व-समय कहलाता है। इसमें ज्ञायक ज्ञान -ज्ञप्ति सभी एकाकार हो जाते है। इस बिन्दु से ही जीवन मे धर्म का प्रारम्भ होता है जो व्यक्ति पक्ष विशेष से बन्ध जाते है या वस्तु को अन्यथा ग्रहण करते है, वे संसार में ही भटकते रहते है, यह पर-समय है। पर-समय एकान्तिक, मिथ्या, दुःख का कारण, दुःख और अधर्म स्वरूप है। स्व-समय अनेकान्त रूप सम्यक, सुख- का कारण सुख और धर्म स्वरूप है।

संसार मार्ग और मोक्ष मार्ग

संसारी जीव परावलम्बन या परतन्त्रता के कारण दुःखी है। यह परावलम्बन अपने आत्म स्वरूप के प्रति अरुचि, अज्ञान एवं राग-द्वेष रूप परिणति के कारण हुआ है। इसे

मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान एवं मिथ्या चरित्र कहते है। यह संसार के अनन्त दुःख का मार्ग है। ठीक इसके विपरीत मोक्ष मार्ग है जो "सम्यक दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्ग के अनुसार सम्यक श्रद्धान, सम्यक-ज्ञान एव सम्यक चारित्र की एकता रूप है। इसमे सम्यक दर्शन मोक्षमार्ग का मूल आधार है आत्म रूचि ही सम्यग्दर्शन है जो जीवादि सात तत्वो एव नौ पदार्थो के ज्ञान एवं ग्रहण सहित आत्मानुभूति पूर्वक होता है।

जीवादि सात तत्व एवं नौ पदार्थो के ज्ञान मे उनके स्वरूप कर्म-बन्ध, कर्म-क्षय की प्रक्रिया, पाप-पुण्य रूप अशुभ-शुभ भावो के स्वरूप तथा उनके फल का व्यापक वर्णन हुआ है। इसमे जीव-अजीव जानने योग्य ज्ञेय रूप है, आश्रव-बन्ध त्याज्य हेय है, संवर-निर्जरा एक देश उपादेय है तथा मोक्ष तत्व उसका फल है। पाप पुण्य आश्रव तत्व मे सम्मिलित है।

कर्म बन्ध के प्रत्यय

भावो के अनुसार कर्म बन्ध एवं उसके कारक, प्रत्ययो का वर्णन आगम मे अनेक नयो से किया गया है। सामान्यतः मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, और योग यह कर्म-बन्ध के प्रत्यय है। इनमे "मिथ्यात्व" मिथ्यादर्शन का सूचक है तथा अव्रत प्रमाद कषाय" मिथ्या-चारित्र मे सम्मिलित है तथा "योग" मन वचन काय के निमित्त आत्म प्रदेशो की चचलता दर्शाता है। कर्म-बन्ध के प्रत्ययो का वर्णन वेदना प्रत्यय विधान के अंतरगत धवला पुस्तक १२ के पृष्ठ २७४ से २९३ तक किया है, जो इस प्रकार है।

नयो मे नैगम, व्यवहार और संग्रह नय द्रव्यार्थिक नय कहलाते हैं। इनके अनुसार ज्ञानावरणादिक आठ कर्मो का बन्ध प्राणातिपात, असत वचन, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, रात्रि भोजन, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, प्रेम, निदान, अभ्याख्यान, कलह, पैशुन्य, रति, अरति, उपाधि, धोखा, मोष, मिथ्या ज्ञान, मिथ्या-दर्शन, और योग से होता है। (सूत्र १ से ११) ऋजु सूत्र नय पर्यायार्थिक नय है। इसकी अपेक्षा कर्मबन्ध में योग से प्रकृति और प्रदेश बन्ध होता है तथा कषाय से स्थिति और अनुभाग बन्ध होता है। (सूत्र १२-१४) शब्द, समभिरूढ़ तथा एव भूत यह तीन शब्द नय है। शब्द नय की अपेक्षा कर्म-बन्ध का कारण अव्यक्त है।

आचार्य कुन्द कुन्द के अनुसार "परिणाम से बन्ध है, परिणाम राग-द्वेष-मोह युक्त है। उनमे मोह और द्वेष अशुभ है, राग शुभ अथवा अशुभ होता है। (प्रवचनसार गाथा १८०)

कर्म-बन्ध मे प्रत्ययो का वर्णन विविध नयो या दृष्टिकोणो के ऊपर आधारित होने के कारण उनके जटिल एव बहुआयामी स्वरूप को एक शब्द मे व्यक्त नही किया जा सकता और न ही उससे कोई निर्णायक निष्कर्ष ही निकाले जा सकते। यदि ऐसा किया भी गया तो वह पर-समय रूप मिथ्या ही होगा। फिर अध्यात्म मे यह प्रयोग गर्भाहित है जिसे ज्ञात कर "सम्यक दर्शन-ज्ञान-चारित्र" रूप मोक्ष मार्ग के द्वारा कर्मो का नाश/क्षय किया जाता है।

मोक्ष मार्ग में भेद-विज्ञान की भूमिका

बन्ध मार्ग में मिथ्यात्व एवं कषाय रूप मिथ्या चारित्र की प्रभावी भूमिका है, क्योंकि नवीन कर्म-बन्ध पदार्थो के अयथार्थ ग्रहण एवं पर ज्ञेयों के प्रति ममत्व/मैत्री भाव से होता है, जबकि मोक्ष मार्ग का अवतरण आत्मा के अखण्ड ज्ञान के प्रचण्ड भाव के क्षितिज पर होता है। इसमे आत्म ज्ञान एवं भेद विज्ञान की ही भूमिका महत्वपूर्ण होती है।

भेद-विज्ञान के द्वारा आत्मा जव आत्मा-अनात्मा, स्वभाव-विभाव, इन्द्रिय-अतिन्द्रय सुख, संसारमार्ग-मोक्ष मार्ग, शुद्ध-अशुद्ध भाव आदि का निर्णय कर सर्वविकल्प भेदो को भूलकर अपने ज्ञान स्वभाव मे स्थित होकर स्व का ज्ञायक बनता है। तब ससार दुख जन्य अज्ञान अन्धकार स्वत विलीन हो जाता है। जिस प्रकार प्रकाश के उदय होते ही अन्धकार स्वत तिरोहित हो जाता है उसी प्रकार आत्म-ज्ञान के प्रकाश मे अज्ञान-अधकार एव मोह रूप आत्मा की पर-समय प्रवृत्ति का ह्रास होने लगता है। अन्धकार विनाश की प्रक्रिया मे प्रकाश यह नही देखता कि अंधकार कब से है, कैसे आया और कहाँ से आया। वस्तुत यह उसका स्वभाव भी नही है। उसका काम तो अपने स्वरूप बोध के साथ उदित होकर प्रकाश करना है। जैसे ही प्रकाश होता है, अन्धकार स्वत दूर भाग जाता है। अन्धकार भगाने या मिटाने के लिए प्रकाश को कुछ प्रयास नही करना पड़ता। वह सहज ही होता है। प्रकाश, प्रकाश मे रहता है। वह कही किसी पर पदार्थ या अन्धकार में कुछ करता नही है। प्रकाश के अपने स्वरूप में "होने या रहने" का ही उसका कार्य है, जो वह करता है। इससे स्पष्ट है कि जब आत्मा अपने ज्ञान स्वरूप मे "होती या रहती है" तब पर-समय रूप परतंत्रता स्वतः समाप्त हो जाती है। इस कार्य मे उसे किसी पर पदार्थ मे कुछ करना या न करना नही पडता, मात्र अपने ज्ञान -स्वरूप मे होना या रहना होता है। मन मे जब परनिमित्त से क्रोधादि विकार भाव ज्ञात व अज्ञात रूप में आते है तब भी जागरूक प्रबुद्ध आत्मा उन भावों से रति - अरति न कर मात्र उनका ज्ञायक ही बनी रहती है। यह ज्ञायक भाव आत्म ज्ञान एवं आत्म रूचि के क्षितिज पर ही उदित होता है।

कर्म बन्ध में मिथ्यात्व एव कषायो की भूमिका को देखते हुए प्राय. यह भाव सहज ही उत्पन्न हो जाता है कि कषाय कम करो, या मन्द करो आदि। प्रथमत· यह विचार पदार्थो के अयथार्थ ग्रहण का प्रतिफल होने से यह ससार मार्ग का सूचक है। दूसरे, जैन दर्शन में आत्मा पर भाव या पर-द्रव्य अकर्ता-अभोक्ता होने के कारण उसे यह इष्ट नही है। तीसरे, कषाय की उत्पत्ति का निमित्त एव समय आदि अनिश्चित होता है। ऐसी स्थिति मे उसे कम करने या न करने की बात मिथ्या हो जाती है। चौथे, स्वभाव से आत्मा तो मात्र ज्ञायक ही है। वह जानने के अतिरिक्त अन्य कुछ कर ही नहीं सकता। हालांकि वह भावो के अनुरूप शुद्ध-अशुद्ध होता है। ऐसी स्थिति मे कषाय आदि से दृष्टि उठाकर आत्म केन्द्रित करना आचार्यो को इष्ट लगा। इसी कारण "बन्ध कारण अभाव· मोक्ष मार्गः" के स्थान पर "सम्यकदर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्ष मार्ग·" सूत्र की रचना हुई। धर्म का अवर्णवाद रोकने हेतु इस रहस्य को समझना आवश्यक है।

अब प्रश्न यह है कि मोह अन्धकार का विनाश कैसे हो और कैसे सम्यदर्शन की प्राप्ति हो। इस प्रश्न के समाधान के ऊपर ही जीवन का मिथ्या से सम्यक रूपान्तरण संभव है। इसके लिए हमें आगम और अध्यात्म शास्त्रों की ओर दृष्टि करनी होगी। इनके मार्ग दर्शन में ही धर्म दर्शन की जानकारी स्वानुभव के साथ त्रिरत्न रूप जीवन का अंग बन सकती है।

मोह ग्रन्थि का क्षय - शुद्धात्मा की उपलब्धि

अध्यात्म शास्त्रों में "शुद्धात्मा की उपलब्धि से मोह ग्रन्थि की क्षय" की निष्पत्ति आयी है। इस सूत्र में समूचा मोक्ष समा जाता है। अध्यात्म के आदि कवि आचार्य कुन्द कुन्द ने प्रवचन सार की गाथा १९४ मे इस तथ्य की महत्वपूर्ण घोषणा की है। शुद्धात्मा की उपलब्धि से दर्शन मोह अर्थात मिथ्यात्व की ग्रन्थि का क्षय कैसे होता है, इसे जानने समझने के लिए प्रवचन सार की गाथा १९१ से १९४ तक के भाव को समझना आवश्यक है, जो इस प्रकार है :-

"मै पर का नहीं हूँ, पर मेरे नहीं है, मै एक ज्ञान हूँ, जो इस प्रकार ध्यान करता है वह आत्मा ध्यान काल में शुद्धात्मा का ध्याता होता है (गाथा १९१) में आत्मा को ज्ञानात्मक, दर्शन भूत, अतिन्द्रिय, महापदार्थ, ध्रुव अचल, निरालम्बा और शुद्ध मानता हूँ। (गाथा १९२) शरीर, धन, सुख-दुख अथवा शत्रु-मित्र, जीव के ध्रुव नहीं है। ध्रुव तो उपयोगात्मक आत्मा है। (गाथा १९३) जो व्यक्ति ऐसा जानकर विशुद्धात्मा होता हुआ परम आत्मा का ध्यान करता है वह साकार हो या निराकार 'मोह दुर्गन्धि" का क्षय करता है। (गाथा १९४) इससे स्पष्ट है कि शरीर आदि परद्रव्यों एवं विकार--विभाव - भावों से भिन्न शुद्धात्मा का ध्यान करने से मोह ग्रन्थि टूटती है।

समय सार गाथा ८३ में भी आचार्य कुन्द कुन्द ने क्रोधादिक सर्व की निवृत्ति हेतु इसी मार्ग की पुष्टि की है, जो इस प्रकार है :-

"अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओणाणदंसण समग्गो।
तम्हि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयंणेमि ॥ ७३ ॥

अर्थ - निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममता रहित हूँ, ज्ञान -दर्शन पूर्ण हूँ, उस स्वभाव में रहता हुआ उस चैतन्य अनुभव में लीन होता हुआ मै उन क्रोधादिक सर्व आश्रवों को क्षय को प्राप्त कराता हूँ।

मोह ग्रन्थि के क्षय हेतु अन्य उपाय भी प्रवचन सार में वर्णित है, जो प्रकारान्तर से एक ही गन्तव्य को ले जाते हैं "जो अरहंत भगवान को द्रव्य गुण और पर्याय रूप से जानता है, वह अपनी आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य नाश को प्राप्त होता है, क्योंकि अरहंत का इस प्रकार ज्ञान होने पर सर्व आत्मा का ज्ञान होता है (गाथा ८०) "जो निश्चय से ज्ञानात्मक ऐसे अपने को और पर को निज -निज द्रव्यत्व से सम्बद्ध जानता है वह मोह का क्षय करता है। इस प्रकार शुद्धात्मा की उपलब्धि, अरहंतभगवान

की प्रतीति सहित आत्मा के ज्ञान, भाव-भाषित स्व-पर विवेक एवं जिन शास्त्रों के अभ्यास द्वारा पदार्थ के ज्ञान से दर्शन मोह की ग्रन्थि का क्षय होता है इससे स्पष्ट है कि मोह क्षय के लिए आत्म ज्ञान विहीन कषायादिक विभावों को मन्द करने, रोकने या उनके विकल्पों में उलझने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता किन्तु सहज- शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा रूप आत्मानुभव एवं शुद्धात्मा की उपलब्धि से मोह क्षय होता है। मोह सरोवर सूखने पर क्रोधादिक कषाय रूपी मगरमच्छों का निरंतरित अस्तित्व भी अल्प कालिक रह जाता है।

जयवन्तवर्तो आत्मोपलब्धि/शुद्धोपयोगी

आचार्य जयसेन के अनुसार स्वाध्याय के द्वारा आत्मा में ज्ञान प्रगट होता है, कषाय भाव घटता है, संसार से ममत्व हटता है, मोक्ष भाव से प्रेम जगता है। इसी के निरंतर अभ्यास से मिथ्यात्व कर्म और अनन्तानुबन्धी कषाय का उपशम हो जाता है और सम्यग्दर्शन पैदा हो जाता है। प्रवचन सार गाथा ९२ की टीका करते घोषित किया है कि ''जयवन्त वर्तो स्यादवाद मुद्रित जैनेन्द्र -शब्द-ब्रह्म और जयवन्तवर्तो शब्द-ब्रह्म मूलक आत्मतत्वोपलब्धि जिसके प्रसाद से अनादि संसार से बन्धी मोह ग्रन्थि तत्काल ही छूट गई है। और जयवन्तवर्तो परम बीतराग चारित्र स्वरूप शुद्धोपयोग जिसके आत्मोपलब्धि द्वारा दर्शन मोह का क्षय तथा शुद्धोपयोग से चारित्र मोह का क्षय होकर आत्म धर्म स्वरूप होता है।

मोह ग्रन्थि के क्षय का फल

दर्शन मोह के क्षय से स्वतन्त्र आत्म दर्शन होता है और क्षोभ रहित अनुकूल सुख की प्राप्ति का मार्ग प्रकट होता है। आगम के अनुसार प्रथम दर्शन मोह का क्षय या अभाव होता है, पश्चात शुद्धोपयोगी द्वारा क्रमिक रूप से चरित्र मोह का क्षय हो कर आत्मा की शुद्ध ज्ञान दर्शन पर्याय प्रकट होती है, जो परावलम्बन का नाश कर आत्मा को कर्म-बन्धन से स्वतन्त्र करती है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते है कि जो मोह ग्रन्थि को नष्ट करके, रागद्वेष क्षय करके, सुख-दुख मे समान होता हुआ श्रमणता में परिणमित होता है, वह अक्षय सौख्य अर्थात परम आनन्द को प्राप्त होता है। (प्र०सार १९५) आत्म का ध्यान करने वाले श्रमण, निर्मोही, विषयो से विरक्त, मन के निरोधक और आत्म स्वभाव में स्थित होकर आत्मा का ध्यान करते है। ऐसी शुद्धात्मा को प्राप्त करने वाले श्रमण सर्वधातिया कर्मों का नाश कर सर्वज्ञ सर्व दृष्टा हो जाते है। (१९६-१९७)और तृष्णा, अभिलाषा, जिज्ञासा एवं संदेह रहित होकर इन्द्रियातीत अनाकुल परिपूर्ण ज्ञान से समृद्ध परम आनन्द का अनुभव-ध्यान करते रहते है। (१९८) उनके इस परम आनन्द की तुलना में इन्द्रियजन्य सुख अकिचिंतकर या अकार्यकारी होता है, उसी प्रकार जैसे अंधकार नाशक दृष्टि वाले को दीपक प्रयोजन हीन होता है (गाथा ६७)

आत्म श्रद्धानविहीन व्रत क्रियाएं मोक्षमार्ग में/अकिंचितकर

संक्षेप में आत्मा के साथ कर्म-बन्ध मिथ्यात्व, कषाय एवं योग से होता हैं, जबकि कर्म से क्षय का मार्ग प्रशस्त होता है, भेद विज्ञान द्वारा आत्मा में ज्ञान सूर्य के उदय

से । जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से अधकार विलीन हो जाता है उसी प्रकार आत्मा के क्षितिज पर ज्ञान सूर्य उदित होते ही मोह-अन्धकार विलीन हो जाता है । मोक्षमार्ग का सूत्र है –पदार्थों के यथार्थ ग्रहण के साथ आत्म श्रद्धा ज्ञान और चारित्र । मोक्ष का साधन है –शुद्धोपयोग । मोक्ष मार्ग का उपकरण है + भेद-विज्ञान । भेद-विज्ञान पूर्वक आत्मानुभव से आत्म श्रद्धान एवं आत्मोपलब्धि होती है, जिससे मोह ग्रन्थि का क्षय होता है । शुद्धात्मा के निरंतर ध्यान रूप तप एवं शुद्धोपयोग से राग-द्वेष का जनक चरित्र मोह का क्षय होकर आत्मा परम आनंद मय होता है । इस क्रम में व्रत क्रिया के शुभोपयोग रूप अनेक पड़ाव आते है और विलीन होते जाते है । यह तभी तक कार्यकारी होते है जब दृष्टि शुद्धात्मा पर होती है । आत्म-श्रद्धान-विहीन भाव-रहित व्रत-क्रियाए मोक्ष मार्ग मे अकिचनकर होती है । आगम मे कहा भी है कि सम्यकत्व विना करोड़ो वर्ष तक उग्रतप भी तपै तो भी बोधि की प्राप्ति नही होती (दर्शन पा. ५) । इसी प्रकार चारित्ररहित ज्ञान, दर्शन रहित साक्ष लिग तथा संयम रहित तप निरर्थक है । (शीलपाहुड ५) भाव रहित द्रव्यलिंग होने पर कर्म की निर्जरा नामक कार्य होता है, केवल द्रव्यलिग से नही । भाव सहित नग्नत्व कार्यकारी है । है धैर्यवान मुने निरतर नित्य आत्मा की भावना कर (भावपाहुड ५५-५५) और पदार्थो को यथार्थ रूप से ग्रहण कर मोक्ष मार्ग मे प्रवृत्त हो (प्र सार २७१) ऐसे साधु ही धर्म स्वरूप और आगम चक्षु होते है ।

आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार सम्यक (यथार्थतया) पदार्थो को जानते हुए जो बहिरग तथा अतरंग परिग्रह को छोडकर विषयो से आसक्त नहीं है वे शुद्ध कहे गये है (प्र सार गाथा २७४) । ऐसे शुद्ध (शुद्धोपयोगी) को श्रमण्य कहा है और शुद्ध को दर्शन तथा ज्ञान कहा है, शुद्ध के निर्वाण होता है, वही सिद्ध होता है, उन्हे नमस्कार हो । (प्रवचनसार गाथा २७२) जिनेन्द्र देव द्वारा दर्शाये गये त्रिरत्न रूप मोक्षमार्ग के अनुगामी और मौनधारण कर पंचाचार द्वारा इन्द्रिय मन जीतने वाले निर्गन्थ मुनि, ज्ञान-स्वभावी आत्मा मे रमण करने वाले समत्वधारी आत्मा-साधक साधु, समस्त पर ज्ञेयो की परिक्रमा का निरोध कर यत्नाचारपूर्वक शुद्धोपयोग के धारक यति और आत्म ऋजुता के शिखर पर आसीन ऋद्धिधारी ऋषियों को बारम्बार नमस्कार हो ।

उपसंहार

जो व्यक्ति अपनी आत्मा को जैसा देखता है, वैसा ही हो जाता है । आत्मा को शुद्ध जानने वाला शुद्धात्मा को पाता है और अशुद्ध जानने वाला अशुद्ध आत्मा को पाता है । (समयसार गाथा १८६) सभी जीव जिनोपदिष्ट आत्मोपलब्धि द्वारा दर्शन मोह का क्षय कर शुद्धोपयोग द्वारा मोह क्षोभरहित साम्यभाव युक्त चारित्र धारण कर परमसुखी हो, यही कामना है ।

●●●

इस अक के लिए कागज़ श्री सलेक चन्द्र जैन कागजी
३, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२ से सधन्यवाद प्राप्त

Regd. with the Ragistrar of Newspaper at R No. 10591/62

'अनेकान्त'

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रूपये

वार्षिक मूल्य : ६ रूपये, इस अंक का मूल्य : १ रूपया ५० पैसे

यह अंक स्वाध्याय शालाओं एवं मंदिरों की मांग पर निःशुल्क

विद्वान लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक–मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हों। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

संपादन परामर्शदाता :
श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन,
संपादक :
श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक :
श्री भारतभूषण जैन एडवोकेट,
वीर सेवा मंदिर, नई दिल्ली-११०००२.
मुद्रक :
मास्टर प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२.

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र–प्रवर्तक : आचार्य जुगल किशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष-48 किरण-2-3 अप्रैल-सितम्बर 95

1. उपदेशी-पद
2. पात्रदान-विधि
3. मंगल मंत्रणमोकार
   —डॉ. जयकुमार जैन
4. आगमों के प्रति विसंगतियाँ
   —पद्मचन्द्र शास्त्री
5. जैन-शौरसेनी किं वा शौरसेनी
   —जस्टिस, एम.एल. जैन
6. परमपूज्य आ. सूर्यसागर जी के उद्‌गार
7. कल्पवृक्षों की भूमि केरल
   —श्री राजमल जैन
8. चडोभ का ऐतिहासिक जिनालय व दानपत्र
   —प्रि. कुन्दनलाल जैन
9. चडोभ का जिन मंदिर

वीर सेवा मंदिर, 21 दरियागंज, नई दिल्ली-110002

Regd. with the Ragistrar of Newspaper at R. No. 10591/62

'अनेकान्त'

आजीवन सदस्यता शुल्क : 101.00 रू०

वार्षिक मूल्य : 6 रू०, इस अंक का मूल्य : 1 रूपया 50 पैसे

यह अंक स्वाध्याय शालाओं एवं मंदिरों की मांग पर निःशुल्क

विद्वान लेखक अपने विचारो के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक–मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एव समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

संपादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, संपादक श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक : श्री भारत भूषण जैन एडवोकेट, वीर सेवा मंदिर, नई दिल्ली–2

मुद्रक : मास्टर प्रिंटर्स नवीन शाहदरा, दिल्ली–32

अनेकान्त

वर्ष ४८	वीर सेवा मंदिर, २१ दरियांगज, नई दिल्ली-२	अप्रैल-सितम्बर
किरण २ - ३	वी.नि.सं. २५२१ वि.स. २०५२	१९९५

उपदेशी-पद

मत राचौ-धी-धारी।

भव रंभ-थंभ सम जानके, मत राचौ धी-धारी।
इन्द्रजाल कौ ख्याल मोह ठग, विभ्रम पास पसारी।।
चहुंगति विपतिमयी जामें जन, भ्रमत मरत दुख भारी।
रामा मा, मा वामा, सुत पितु, सुता श्वसा अवतारी।।
को अचम्भ जहँ आप आपके पुत्र दशा विस्तारी।
सुर नर प्रचुर विषय-जुर जारे, को सुखिया संसारी।।
मण्डल है अखंडल छिन में, नृप कृमि सधन भिखारी।
जा सुत विरह मरी है वाघिन, ता सुत देह बिदारी।।
शिशु न हिताहित ज्ञान, तरुन उर मदन दहन परजारी।
वृद्धभये विकलंगी थाये, कौन दशा सुखकारी।।
यों असार लख छार भव्य झट भये मोख-मगचारी।
याते होहु उदास 'दौल' अब भजजिन पति जगतारी।।

पात्र-दान-विधि

पत्त णियधरदारे दट्ठूणण्णत्थ वा विमग्गित्ता।
पडिगहण कायव्व णमोत्थु गहुत्ति भणिऊण।।
णेऊण णियय गेह णिरवज्जाणु तह उच्चठाणम्मि।
ठविऊण तओ चलणाण धोवण होई कायव्वं।।
पाओदय पवित्त सिरम्मि काऊण अच्चण कुज्जा।
गधक्खय कुसुमणेवज्जदीबधूबेहि य फलेहि।
पुष्फजलि खिवित्ता पयपुरओ वदण तओ कुज्जा।
चइऊण अट्टरूद्दे मणसुद्धी होइ कायव्वा।।
णिट्ठुर कक्कस वयणाइवज्जण त वियाण वचिसुद्धि।
सव्वत्थ सपुडगस्स होइ तह कायसुद्धी वि।।

❑ **वसुनंदि श्रावकाचार २२६-२३०**

पात्र को अपने घर के द्वार पर देखकर या अन्यत्र खोजकर प्रतिग्रहण करना चाहिए। अपने घर मे ले जाकर निर्दोष ऊँचे स्थान मे बिठाकर उनके चरण धोना चाहिए। पवित्र पादोदक शिर मे लगाकर अष्ट द्रव्यो से पूजा करना चाहिए। चरणाग्र मे पुष्पाजलि क्षेपण कर वन्दना करे। आर्त रौद्र ध्यान छोडकर मन शुद्धि करना चाहिए। निष्ठुर कर्कश वचनो का त्याग करने को वचन शुद्धि जानना चाहिए। सब ओर विनीत अग रखने वाले दातार के कायशुद्धि होती है।

एक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन

मंगलमंत्र णमोकार

☐ डॉ० जयकुमार जैन

यह सार्वभौम सत्य है कि संसार में प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है और दु:ख से भयभीत है— 'जे त्रिभुवन मे जीवन अनन्त; सुख चाहे दुखतैं भयवन्त।' सुखप्राप्ति के उपाय के विषय में विषमता दृष्टिगोचर होती है। जड़वादी भौतिक सामग्री की उपलब्धि मे सुख मानता है किन्तु अध्यात्मवादी भौतिक सामग्रीजन्य सुख को सुखाभास समझकर इच्छाओ के अभाव में स्थायी सुख स्वीकार करता है। सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स ने सुखप्राप्ति का एक सूत्र बतलाया है—

Achievement (लाभ)/ Expectation (आशा) = Satisfaction (संतुष्टि)

अर्थात् लाभ अधिक हो तथा आशा कम हो तो सुख की प्राप्ति होती है और आशा अधिक हो तथा लाभ कम हो तो दु:ख मिलता है। इस सूत्र का सार यह है कि मनुष्य को आशाये कम करके सुख प्राप्त करना चाहिए। जब आशायें शून्य हो जाती है तो परमानन्द की प्राप्ति होती है। जैनाचार्यो का भी यहीं उद्घोष है—

'आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य कियदायाति वृथा का विषयैषिता।।'

वादीभसिह सूरि की तो स्पष्ट अवधारणा है कि आशा रूपी समुद्र की पूर्ति आशाओ की शून्यता से सभव है। भारतीय मनीषियों ने आशाशून्यता या आशान्यूनता की अवस्था पाने के दो साधन प्रतिपादित किये हैं— साधना (अभ्यास) और वैराग्य। इन दोनों से प्राणी प्रतिकूल परिस्थिति में भी सुख प्राप्त कर सकता है। महर्षि पतजलि द्वारा वर्णित मन को वश में करने के लिए चतुर्विध साधनो में मत्रो का महत्वपूर्ण स्थान है।

भारत की आध्यात्मिक परम्परा में गुणी की पूजा उसके गुणों की उपलब्धि के लिए की जाती है— 'वन्दे तद्गुणलब्धये।' इसका प्रमुखतम उपाय मन्त्रसाधना है, जो एक क्रियात्मक विज्ञान है तथा जिसके माध्यम से साधक साध्य से मिलकर साध्यगत गुणों को पा लेता है। मन्त्रसाधना से दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से छुटकारा पाया जा सकता है। जैन धर्म के मूल मन्त्र णमोकार में जिन पंच परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है वे या तो आशाशून्य

अवस्था को प्राप्त है या फिर आशान्यूनता से क्रमश आशाशून्यता की ओर अग्रसर हैं। विलियम जेम्स के शब्दों में कहा जाय तो वह या तो पूर्ण सुखी है अथवा पूर्ण सुखी बनने के मार्ग पर अग्रसर है। अत उनके मनन से साधक भी वैसा ही बन सकता है।

मन्त्रशक्ति सर्वसम्मत है। जैन परम्परा में इसे पौद्गलिक माना गया है। गोम्मटसार जीवकाण्ड की जीवतत्वप्रदीपिका टीका मे कहा गया है– 'अचिन्त्यं हि तपोविद्यामणिमन्त्रोषधिशक्त्यतिशयमाहात्मय दृष्टत्वभावत्वात्। स्वभावो ऽतर्कगोचर इति समस्त वादिसम्मतत्वात्। कालिदास ने इसी तथ्य को 'अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभाव' कहकर प्रकट किया है। यद्यपि जैन धर्म में मन्त्र आदि की सिद्धि का लोकमार्ग में निषेध किया है तथा मन्त्रों से आजीविका करने वाले साधु को बहु प्रताडित भी किया है। रयणसार मे कहा गया है कि जो मुनि ज्योतिषशास्त्र, अन्य विद्या या मन्त्र–तन्त्र से अपनी आजीविका करता है, वैश्यो के समान व्यवहार करता है और धनधान्यादि ग्रहण करता है, वह मुनि समस्त मुनियों को दूषित करने वाला है। तथापि परिस्थितिवश हमे मन्त्र प्रयोग की अनुमति भी दी गई है। भगवती आराधना की विजयोदया टीका में कहा गया है कि जिन मुनियो को चोर से उपद्रव हुआ हो, दुष्ट पशुओं से पीडा हुई हो, दुष्ट राजा से कष्ट पहुचा हो, नदी के द्वारा रुक गये हो तो विद्या मन्त्र आदि से उसे नष्ट करना वैयावृत्ति है। संसारी जनो के निमित्त पूजा विधान आदि धार्मिक तथा गर्भाधानादि लौकिक क्रियाओ के लिए महापुराण आदि में विशिष्ट–विशिष्ट मन्त्रो का निर्देश किया गया है।

णमोकार मन्त्र दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में मान्य है। धवलाकार इसे निबद्धमगल मानते हैं। निबद्धमंगल का अर्थ है– ग्रन्थकार द्वारा रचित। इस आधार पर इस मंत्र को धवला प्रथम खण्ड के कर्त्ता आचार्य पुष्पदन्त की रचना मानना अभीष्ट प्रतीत होता है। यह भी संभव है कि आचार्य पुष्पदन्त ने इसे अन्यत्र से लेकर उद्धृत किया हो। श्वेताम्बर ग्रन्थ महानिशीथ में कहा गया है कि पंचमगलसूत्र अर्थ की अपेक्षा तो भगवान् द्वारा रचा गया है, किन्तु सूत्र की अपेक्षा यह गणधर की रचना है। हाथीगुफा (उडीसा) शिलालेख मे **'णमो अरहंताणं सिधाणं'** पाठ भेद पाया जाता है। यह शिलालेख कलिंग नरेश खारवेल का है। **कुछ लोग आजकल 'अरहंताणं' पाठ को अशुद्ध बताकर केवल अरिहंताणं पाठ को शुद्ध घोषित कर रहे हैं। यह मूल आगम का अवर्णवाद है,** क्योंकि हमारे दिगम्बर आगमों में अरिहंताण और 'अरहंताण' दोनो ही पाठों का खूब उल्लेख हुआ है। कषायपाहुड, महाबन्ध, मूलाचार, तिलोयपण्णत्ति धवला आदि में दोनो ही पाठ प्राप्त होते हैं। हेमचन्द्राचार्य तो प्राकृत व्याकरण के अनुसार

अरहत, अरिहंत और अरूहत तीनों पाठों का सबहुमान उल्लेख करते है। 'उच्चार्हति' ८/२/१११ सूत्र की स्वोपज्ञवृत्ति में वे लिखते हैं– अर्हत् शब्दे हकारात् प्राग् उदितावुद भवन्ति च। अरहो अरिहो रूपमरूहो चेति सिद्धयति। अरहतो, अरिहंतो, अरूहतो चेति पठ्यते। हाथीगुफा शिलालेख मे सिद्धाणं के स्थान पर सिधाण का प्रयोग भी अशुद्ध नही अपितु साभिप्राय है। सिद्धाणं के सि को सयुक्ताक्षर के पूर्व होने पर भी ह्रस्व ही माना गया है, क्योकि यहां स्वराघात नहीं है। सिद्धाण के स्थान पर सिधाणं का लेखन उच्चारणगत भिन्नता दृष्टिगोचर होती है।

आजकल कुछ लोगो ने आगमो की शुद्धि का एक अभियान सा चलारखा है तथा पश्चाद्वर्ती व्याकरणो के आधार पर कुन्दकुन्द आदि की भाषा को शौरसेनी प्राकृत जोर–शोर से घोषित किया जा रहा है। यह दिगम्बर परम्परा को पीछे ढकेलने वाला तथा आत्मघाती भी सिद्ध हो सकता है। जिस प्रकार पाणिनि आदि के लौकिक व्याकरणो को आधार बनाकर वैदिक संस्कृत के परम्परागत मूलपाठो मे परिवर्तन न करके उनकी पूर्ण सुरक्षा की गई है, उसी प्रकार दिगम्बर जैन आगमो की भाषा मे भी व्याकरण को आधार बनाकर आम्नाय के मूल पाठो मे परिवर्तन करना हितकर नही आगमों मे आर्ष प्रयोगो की बहुलता होती है। अत उन्हे किसी एक प्राकृत का मानना ही समीचीन नहीं है। हमारी परम्परा तो मूल भाषा को 'दश अष्ट महाभाषा समेत, लघु भाषा सात शतक सुचेत' स्वीकार करती है। सुप्रसिद्ध प्राकृतवेत्ता पिशेल जैन आगमो मे शौरसेनी की बहुलता तथा अर्धमागधी आदि की प्रवृतियो के समावेश के आधार पर ही इसे जैन शौरसेनी जैसे पृथक् नाम से अभिहित करते हैं। यदि दिगम्बर परम्परा की मूल भाषा शौरसेनी स्वीकार कर ली जाय तो 'नमो' पाठ स्वीकार करना पडेगा, क्योकि सौरसेनी मे तो आदि का न अपरिवर्तनीय रहता है। जबकि यह सुविदिततथ्य है कि दिगम्बर परम्परा णमो पाठ तथा श्वेताम्बर परम्परा नमो पाठ मानती है।

णमोकार मन्त्र मे पच परमेष्ठियो मे सर्वप्रथम अरहतो को नमस्कार कियागया है, जो सर्वथा वैज्ञानिक है। क्योकि सिद्धो का ज्ञान हमे अरहंतो के माध्यम से ही होता है। धवला के आदि मे अरहन्तो को नमस्कार करने के जो कारण कहे गये है, वे इस प्रकार है–

१ अरहतो के द्वारा ही सिद्धों का श्रद्धान होता है।

२ आप्त, आगम और पदार्थो का परिज्ञान अरहंतों के माध्यम से ही होता है।

३ अरहतों के प्रति शुभ पक्ष कल्याण का उत्पादक है।

४ इस मन्त्र में वस्तुत गुणी को नमस्कार न करके गुणों को नमस्कार किया गया है और गुणों की अपेक्षा पाचो परमेष्ठी भिन्न नहीं है।

५ अरहंत आप्त है। उनकी श्रद्धा से अन्य में श्रद्धा होती है

अतः अरहंतों को प्रथम नमस्कार किया गया है। चत्तारि दण्डक में पठित साधु शब्द आचार्य, उपाध्याय और साधु तीनों का उपलक्षण है। अत. तीनों को पृथक्–पृथक् उल्लिखित नहीं किया गया है। पंचम परमेष्ठी साधु के पूर्व जुडा सर्व पद साभिप्राय है। मूलाचार में कहा गया है कि निर्वाण के साधन भूत मूलगुण आदिक में सर्वकाल अपने आत्मा को जोडते हैं और सब जीवों में समभाव को प्राप्त होते हैं, इसलिए वे सर्वसाधु कहलाते हैं। धवलकार ने णमोकार मन्त्र में पठित सर्व और लोक पदों को अन्त दीपक मानते हुए उनका सबके साथ योग अभीष्ट माना है।

अनगार धर्मामृत मे णमोकार मंत्र की उच्चारण विधि का वर्णन किया गया है। इसके अनुसार प्रथम भाग में णमो **अरहंताणं**, णमो सिद्धाणं दो पदों का, द्वितीय भाग में णमों आयरियाणं णमो उवज्झायाणं दो पदों का तथा तृतीय भाग में णमो लोए सव्वसाहूणं पद का उच्चारण एवं ध्यान करना चाहिए। इस मंत्र में कुल पांच पद, पैतीस अक्षर तथा अट्ठावन मात्राये हैं। णमोकार मत्र का गाथा की तरह उंच्चारण भी किया जा सकता है। किन्तु यह गाथा के प्रचलित सात प्रकारों से भिन्न है। क्योकि गाहू में ५४, गाथा एवं विगाथा मे ५७, उद्गाथा में ६०, गाहिनी एवं सिंहिनी मे ६२ तथा स्कन्धक में ६४ मात्राओं का विधान है, जबकि सिद्धाणं के सकारोत्तरवर्ती इकार को हृस्व (स्वराघात न होने से) मानने पर इस मन्त्र में ५७ मात्राये होती है। अत यह एक मन्त्र है, अत इसकी आनुपूर्वी में किंचित् भी परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। 'ओम्' बीजाक्षर के साथ पाठ भले ही समीचीन हैं, किन्तु अन्य रूपों मे तोड मरोड कर मन्त्र का पाठ साधनापद्धति के अनुकूल नही है। अत जहा तक संभव हो मन्त्र को न्यूनाक्षर या अधिकाक्षर नहीं पढना चाहिए।

– २६१/३, पटेल नगर, मुजफ्फरनगर

'तित्थयर भासियत्थं गणहर देवेहिं गंथियं सव्वं।
भावेहि अणुदिणु अतुलं विसुद्ध भावेण सुयणाणं।।'

– तीर्थकर ने कह्या अरगणधर देवनि ने गूंथ्या, शास्त्ररूप रचना करी, ऐसा श्रुतज्ञान है, ताहि सम्यक् प्रकार भाव शुद्धकरिनिरन्तर भाय, वह श्रुतज्ञान अतुल है।

–भाव पा० ६२

आगमों के प्रति विसंगतियाँ

☐लेखक : पदमचन्द्र शास्त्री, दिल्ली

डॉ ए एन उपाध्ये एवं डॉ हीरालाल जैन दोनों मनीषियों ने प्राकृत भाषा के ग्रन्थों का सम्पादन किया तथा परंपरित प्राचीनतम दिगम्बर आगमों के व्यवस्थित प्रकाशनों के लिए नियत पं बालचन्द्र शास्त्री एवं हीरालाल शास्त्री प्रभृति अन्य विद्वानों को अपना पूरा दिशा निर्देश किया। हमारी दृष्टि में प्राकृत भाषा मे आज शायद ही कोई दिगम्बर जैन विद्वान ऐसा हो जो अपने को उनके समान विज्ञ घोषित कर सके। दोनो मनीषियों ने आगमिक प्राकृतों का गहन अध्ययन कर निष्कर्ष निकाला कि दिगम्बर आगमों की भाषा कोई एक जातीय (शौरसेनी आदि) प्राकृत भाषा नहीं है, अपितु आगमों की मूलभाषा में अन्य जातीय भाषाएं भी गर्भित है। तीर्थकरो की दिव्यध्वनि को सर्व-भाषा-मिश्रित कहा है। गणधर और परम्परित आचार्य उस भाषा को अर्धमागधी में प्रकट करते हैं। वह प्रमाणिक होती है- आगम भी प्रामाणिक होते है। यदि उसमे बिन्दु मात्र का भी अन्तर हो जाय तो वह गणधर की वाणी नहीं कहलाई जायगी- किसी अन्य की वाणी होगी। फलत. आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वयं साक्षी दी कि "सुय केवली भणियं'- यानी मैं कुछ नहीं कह रहा अपितु जो श्रुत केवली ने कहा वही कह रहा हूँ आदि। जिन सहस्रनाम के तीर्थकृच्छतक के श्लोंक ५३ में गृहीत् **'सर्वभाषामयीगीः'** का अर्थ आशाधर स्वोपज्ञवृत्ति में **'सर्वेषां देशानां भाषामयी गीर्वाणी यस्य'** अर्थात् जिनकी वाणी सर्वदेशों की भाषामयी थी ऐसा कियाहै।

इसी स्तोत्र की श्रुतसागरी टीका श्लोक ५० में गृहीत **'अर्ध मागधीयोक्ति'** का अर्थ **'अर्ध मगध देश भाषात्मकं। अर्धंच सर्व भाषात्मकं'** अर्थात् आधी मगध देश की भाषा और आधी (में) सर्वभाषाएँ (थी) ऐसा किया है।

महापुराण ३३/१२० श्लोक मे **'नाना भाषात्मिकां दिव्य भाषाम्'** और इसी पुराण के ३३/१४८ में **'अशेषभाषा भेदानुकारिणी'** का अर्थ (भाव) भी यही है कि अर्धमागधी भाषा थी। इसी कथन की पुष्टि द पा टीका ३५/२८/१२, चन्द्रप्रभ १८/१, क्रिया क० पृ २४७ में भी की गई है। इसके सिवाय हमारी दृष्टि में **कहीं किसी परम्परिताचार्य का कोई उल्लेख देखने में नहीं आया कि आगमवाणी शौरसेनी (शूरसेन देश की) भाषा मात्र में थी**। और न ही आचार्यो द्वारा कथित कोई प्राचीन प्रमाण शौरसेनी पोषकों द्वारा मिला।

भ्रामक प्रचार :

गत श्रुतपंचमी के अवसरपर एक इश्तिहार शौरसेनी प्राकृत के प्रचार में प्रकाशित था, जिसमें पदमपुराण का श्लोक अंकित था–

नामाख्यातो पसर्गेषु निपातेषु च संस्कृता।
प्राकृती शौरसेनी च भाषा यत्र त्रयी स्मृताः।। २४।११

उक्त श्लोक तीर्थकर मुनिसुब्रत के शासन काल में उत्पन्न केकयी के भाषाज्ञान के संबंध मे है कि वह उक्त तीनो (संस्कृत, प्राकृत और शौरसेनी) भाषाओं को जानती थी। पर शौरसेनी प्राकृत पोषको को शौरसेनी शब्दसे ऐसा लगा कि यह शौरसेनी प्राकृत है। बस, इन्होंने उस शौरसेनी को अपनी अभीष्ट प्राकृत के भेद रूपमें प्रचारित कर दिया। वास्तव में वह शौरसेनी यदि प्राकृत होती तो वह प्राकृती शब्द में गर्भित हो जाती, अलग से उसका कथन न होता। और यदि कदाचित् **'संस्कृता'** शब्द को **'प्राकृती शौरसेनी'** का विशेषण मान लें तो संस्कृत भाषा के अभाव मे दो ही भाषाएँ रह जाती हैं– जबकि कर्ता को भाषात्रयी इष्ट है।

प पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने स्पष्ट तीन भाषाओं का ही उल्लेख किया है तथाहि–

'प्रातिपदिक, तिडन्त, उपसर्ग और निपातों मे संस्कार को प्राप्त संस्कृत, प्राकृत और शौरसेनी ये तीन प्रकार की भाषा जिसमें स्थित थी।' पदमपुराण २४।११। पाठक विचार करे कि नामाख्यातोपसर्ग निपात सस्कारित सस्कृत भाषा, प्रकृति प्रदत्त प्राकृत भाषा और प्राकृत से भिन्न कोई प्रादेशिक शौरसेनी भाषा है।

पिछले दिनों किन्ही विद्वान ने 'प्राकृती शौरसेनी' दोनों शब्दों का मेल बिठाने के लिए लिखा है कि– ''शौरसेनी प्रकृति'' है। यानी ऐसा अर्थ वे अब समझ पाए। पर, हम स्पष्ट कर दे कि ये दोनो भिन्न–भिन्न भाषाएँ है। स्मरण रहे कि यदि यहाँ शौरसेनी प्रकृति होती तो उस अर्थ के लिए यहाँ 'प्राकृती नही अपितु 'प्रकृति' शब्द होता। आचार्य हेमचन्द्र ने तो स्वय ही व्याकरण सबधी अपनी शब्द सिद्धियो में 'सस्कृत' को ही प्रकृति कहा है वे तो 'शौरसेनी' संबन्धी विशिष्ट २६ सूत्रों के अन्त में इतना तक कह रहे है कि **'शेषं प्राकृतवत्।'** इस भाँति 'शौरसेनी' प्राकृत की प्रकृति नहीं है। यदि सभी प्राकृतो की प्रकृति शौरसेनी होती तो उन्हे शौररोनी को 'शेष प्राकृतवत' लिखने की आवश्यकता ही न होती। अस्तु

ऐसे ही शौरसेनी प्राकृत की पुष्टि में बाल्मीकि रामायण और कुमार संभव के जो दो श्लोक उद्धृत किए है उनमें न तो शौरसेनी का नाम है और न ही कोई प्रसंग है। वैसे ही लोगों को भरमाया जा रहा है।

सर्वांगीण भाषा : पहिले हम लिख चुके है कि शौरसेनी कोई स्वतत्र सर्वांगीण प्राकृत भाषा नही है और न ही भेद को प्राप्त अन्य प्राकृतें ही सर्वांगीण हैं। और परम्परित प्राचीन जैन–आगम किसी एक भाषा से बॅधे नही है। वे 'दशअष्ट महाभाषा समेत, लघुभाषा सात शतक सुचेत' के अन्तर्गत हैं– सर्वांगीण भाषा से पूर्ण है और शौरसेनी आदि भाषाएँ उसमे गर्भित हैं। जैसे मानव शरीर के उपांग– नाक, कान, आंख, हाथ आदि। ये सब अपने नाम, काम, बनावट आदि द्वारा अपनी अलग पहिचान कराते हुए भी मूल शरीर से पृथक् नहीं हैं और न ही पृथक् रहकर सत्ता मे रह सकते है और न ही निर्धारित कार्य कर सकते हैं उन्हे शरीर से भोजन, रक्त, मास आदि की पूर्ति आवश्यक होती है। वैसे ही केवल एक भाषा–भेद में कोई प्राकृत कार्यकारी नही होती– अन्य प्राकृतो का सहयोग आवश्यक है। हॉ, कोई भी 'शब्द रूप' प्राकृत भाषा के अपने स्वरूप मात्र को इगित करता है कि मै अमुक जातीय प्राकृत का शब्द हूँ। किसी गाथा या गद्य मे यदि किसी भेद के एक–दो शब्द आ जॉय तो पूरा गाथा या गद्य उसी भाषा मात्र का नहीं माना जा सकता। जैसे किसी ने कहा– **'मेरे पास अभी बात करने का 'टाइम' नहीं है'** तो इस वाक्य में एक शब्द 'टाइम' अग्रेजी का आ जाने से पूरा वाक्य अग्रेजी भाषा का नही कहलाया जा सकता– पूरा वाक्य अपनी भाषा हिन्दी मे ही उसे समाहित कर लेगा। अत वाक्य सामान्य हिन्दी का ही कहलाएगा। ऐसी ही स्थिति शौरसेनी की है कि उस जाति का कोई शब्द (सामान्य प्राकृत के मध्य आकर) किसी पूरे गाथा या गद्य का नामकरण शौरसेनी कराने मे समर्थ न होगा। वाक्य की बात ही क्यो यहॉ तो कई शब्द स्वयं ही कई भाषा मिश्रित भी देखे जाते है।

यह तो माना ही जा रहा है कि 'जितने प्राकृत व्याकरण है, सस्कृत शब्दों से प्राकृत बनाने के नियम दिए हैं– 'प्राकृत विद्या' वर्ष ६ अंक ३ पृष्ठ १३।' इसके सिवाय आचार्य हेमचन्द्र ने भी शब्द सिद्धि मे **'प्रकृति संस्कृतम'** का निर्देश दिया है। तदनुसार किसी एक शब्द को ही परख लिया जाय कि कैसे उस शब्द रूप मे अनेक प्राकृते समाहित है। प्रसग मे हम प्राकृत के **भविस्सदि** शब्द पर विचार करते है। इस शब्द की सस्कृत की प्रकृति **भविष्यति** है और इसकी प्राकृत–रचना का प्रकार यह है–

इसमे **'प्राकृत प्रकाश'** के सूत्र २/४३ **'शषोसः'** से ष को स, सूत्र ३/३ **'सर्वत्र लवराम्'** से य् का लोप और सूत्र ३/५० **'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ'** से स को द्वित्व हुआ और ये सभी सूत्र महाराष्ट्री (प्राकृत) के है अत इतने अंश मे उक्त शब्द महाराष्ट्री निष्पन्न है। इसमे **'ति'** को **'दि'** शौरसेनी के नियम से होता है अत वह भाग शौरसेनी निष्पन्न है। ऐसे में इसे मात्र शौरसेनी का

कैसे कहा जा सकता है? यह तो मिला–जुला भाषा रूप है। ऐसे ही पिछले दिनों कुन्दकुन्द भारती की ओर से एक शौरसेनी प्राकृत कवि गोष्ठी कराई गई थी। उसमें शौरसेनी कवित पाठ कराया गया। यद्यपि हमे वह कविता संग्रह अप्राप्त रहा। फिर भी 'प्राकृत विद्या'— वर्ष ७ अक १ मे शौरसेनी नाम से प्रचारित एक रचना **'विज्जाणण्द थुदि'** शीर्षक से हमने देखी। उक्त शीर्षक ही मात्र शौरसेनी में नहीं है इसमे भी दो भाषाएँ गर्भित है। सस्कृत के **'विद्यानन्द स्तुति'** रूप से प्राकृत रूप **'विज्जाणंद थुदि'** बना है। तथाहि— प्राकृत प्रकाश के सूत्र ३/२७ **'त्याथ्या द्याम् चछजाः'** से 'द्य' को 'ज' हुआ और सूत्र ३/५० **'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ'** से ज् को द्वित्व हुआ। उक्त दोनो सूत्र महाराष्ट्री (प्राकृत) के है। सूत्र २/४२ **'नोणः सर्वत्र'** से **न** का **ण** हुआ तब **'विज्जाणण्द'** बना। **'स्तुति'** शब्द मे हेम सूत्र ८/२/४६ **'स्तेवे वा'** महाराष्ट्री (प्राकृत) से **'स्त'** को **'थ'** हुआ। और केवल शौरसेनी के एक नियम मात्र से **ति** को **दि** होने से **'थुदि'** शब्द सपन्न हुआ। ऐसे में शौरसेनी का मात्र एक नियम प्रयुक्त होने से (शेष सपूर्ण शब्द रूपो मे सामान्य प्राकृत होने) से पूरे **'विज्जाणण्द थुदि'** रूप को मात्र शौरसेनी का कैसे कहा जा सकता है? अर्थात् नहीं कहा जा सकता। इतना मात्र ही है कि 'दि' रूप शौरसेनी का स्वय मे बोध दे रहा है कि मात्र मैं शौरसेनी का रूप हूँ। ऐसे ही 'कुन्दकुन्द भारती' से प्रकाशित कथित शौरसेनी ग्रन्थ 'णियमसार' मे 'कुन्दकुन्द आचार्य' के लिए प्राकृत मे 'कोडकुंड आइरिय' लिखा गया है, वह भी शौरसेनी प्राकृत का नही है। यदि शौरसेनी के सूत्र कोई हो तो 'द' को 'ड' और आचार्य को आइरिय करने के विशिष्ट सूत्र खोजें। इस भाँति प्राकृत की सभी रचनाए मिली–जुली भाषा से ही सपन्न है— **यह निष्कर्ष व्याकरण की अपेक्षा करने वालों के बोध के लिए हैं।** हम तो प्राकृत को प्रकृति प्रदत्त भाषा मानने से सभी रूपों को सही मानते है। अस्तु

णमोकार मंत्र की भाषा :

न्याय सम्मत उक्त दृष्टि की अवहेलना करने वालो और मात्र शौरसेनी के गीतगाने वालो से हमारा निवेदन है कि वे अपनी दृष्टि को मूलमत्र णमोकार मे ले जाएँ। यद्यपि उन्होने 'अरहंताणं' पद को खोटा सिक्का लिखने तक मे सकोच नही किया था और हमारे द्वारा स्पष्टीकारण दिए जाने पर उन्होंने दोनो रूपो को शुद्ध मान, अपनी भूल को, हम पर यह लाछन लगाते हुए (प्रकारान्तर से) स्वीकार कर लिया कि— 'णमो अरिहताणं पाठ के विषय मे लिखे गए लेख को लेकर कई तरह के विसवाद फैलाये जा रहे है एव समाज को उत्तेजित किया जा रहा है।'

हम लिख दें कि यह सब शास्त्रीय विषय है इसमें विधिपूर्वक सप्रमाण स्थिति,

जन सामान्य को बताना आवश्यक है। सो हमने सप्रमाण स्पष्टीकरण किया था। यह समाज को भडकाने या उसमें विसंवाद फैलाने की कोई बात नहीं थी। विसंवाद फैलाने और समाज को भडकाने की बात तो तब होती जब हम किसी को सत्याग्रह करने, घिराव करा देने अथवा कानूनी कार्यवाही करने की बात को उछालते। हमने तो साधारण रीति से न्यायोचित मार्ग समक्ष रखा। हम इन बातों को उछालना नही चाहते, जो लिखते हैं वह सप्रमाणलिखते हैं, बिना किसी आर्थिक सहयोग के।

अब हम **'अरहंताणं'** की बात ही नहीं लिखते वरन्, पूरे मूल मंत्र के प्रसंग को उठाते हैं कि— दिगम्बर आगमों की मूल परम्परित प्राचीन भाषा को शौरसेनी घोषित करने वाले **व्याकरणज्ञ व्यक्ति**, अपनी मान्यता की परख का मंगलाचरण मूलमंत्र के शब्द रूपो के चिन्तन से ही करें कि उसमें कितने पद शौरसेनी व्याकरण सम्मत है? और णमोकार मत्र क्यो दिगम्बरो द्वारा मान्य है? पाठक सोचे।

'णमो अर (अरि) हंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।'

उक्त मूलमत्र जैनियो के सभी सम्प्रदायों में मान्य है। प्राय अन्तर केवल **'न'** और **'ण'** का है। जहाँ दिगबरो मे **'णमो'** प्रचलित है, वहीं श्वेताम्बरो मे प्राय **'नमो'** बोला जाता है। व्याकरण मान्यता वालों की दृष्टि से देखा जाय तो 'जितने भी प्राकृत व्याकरण है, उनमे सस्कृत शब्दों से प्राकृत बनाने के नियम दिए है— (प्राकृत विद्या ६/३) के अनुसार ऐसा शौरसेनी व्याकरण का कौन—सा सूत्र है जो 'न' को 'ण' कर देता हो? अन्य प्राकृतो में तो **'न'** को **'ण'** करने के हेमचन्द्र के सूत्र **'वाऽऽदौ'** ८/१/२२९ और **'नोणः'** ८/१/२२८ और प्राकृत प्रकाश का सूत्र 'नोण सर्वत्र' २/४२ है। क्या शौरसेनी वालो को अपने में इनका हस्तक्षेप स्वीकार है?

'आइरियाणं' शब्द सस्कृत के आचार्य शब्द से बना है। शौरसेनी के विशेष सूत्रों में ऐसा कौन सा सूत्र है जो 'चा' को 'इ' मे बदल देता है? अन्य प्राकृत नियमो मे हेमचंद्र का '**आचार्ये चोडच्च**' ८/१/७३ सूत्र है जो **'चा'** को **'इ'** मे बदल देता है। क्या शौरसेनी वालो को अपने मे इसका दखल स्वीकार है?

तीसरा शब्द **'लोए'** है (जिसे लोगे भी बोला जाने के उपक्रम है) क्या शौरसेनी मे **'क'** को **'ग'** करने का कोई सूत्र है? हाँ, अपभ्रंश मे **'अनादौ स्वरादनुक्तानां क-ग-त-थ-प-फां ग-घ-द-ध बभाः'** हेम ८/४/३९६ सूत्र अवश्य है जो 'क' को 'ग' कर देता है। क्या शौरसेनी में उसका दखल स्वीकार है? व्याकरण के नियम से लोये बनने का तो प्रश्न ही नहीं। यत. लुप्त व्यंजनके स्थान पर 'य' श्रुति होने का विधान वहीं है जहाँ लुप्त व्यंजन के पूर्वमें 'अ'

या 'आ' हो। देखें हेम ८/१/१८० **'अवर्णो य श्रुति'**। यहाँ तो लुप्त वर्ण से पूर्व ओ है।

चौथा शब्द **'साहूणं'** है, जो संस्कृत के साधु शब्द से निष्पन्न है। क्या शौरसेनी मे कोई सूत्र है जो 'ध' को 'ह' मे बदल देता हो? अन्य प्राकृतों में तो हेमचन्द्र का सूत्र **'खघथधभाम्'** ८/ १/१८७ है जो 'ध' को 'ह' में बदल देता है। क्या उक्त रूपो में शौरसेनी वालो को उक्त सूत्रो के दखल स्वीकार हैं। **यदि हॉ, तो भाषा मिश्रित हुई** और नही तो शौरसेनी के स्वतत्र नियम कौन से? जो वैयाकरणो ने विशेष रूप मे दिए हो? उक्त विषय मे विचार इसलिए भी जरूरी है कि उक्त मत्र को सभी जैन सम्प्रदायो वाले मान्य करते है और दिगम्बरों मे शौरसेनी भाषा की घोषणा से मंत्र विवाद मे पड जाएगा कि यह किस सप्रदाय का है? कुछ भी हो, भाषा के विवाद मे हम मूल मत्र छोडने को तैयार नही।

नम्र निवेदन : हम निवेदन कर दे कि हम प्रारम्भ से ही ग्रन्थ सम्पादन की परम्परित और सर्वमान्य परिपाटी के पक्षधर रहे है और शब्द के किसी भी बदलाव को टिप्पण में देने की बात करते रहे हैं और विद्वानों की सम्मतिया भी प्रकाश में ला चुके है। परम्परा की लीक से हटकर कोई सम्पादन करना मूल को बदलना ही है, जिसे कि **रचयिता की स्व-हस्तलिखित प्रति के अभाव में कदापि बदला नहीं जा सकता।** उक्त विधि के अतिरिक्त अन्य विधि अपनाना मूल का सर्वथा अनिश्चय और घात है।

यह तो निश्चित है कि व्याकरणमान्य शौरसेनी के मात्र २६ सूत्रो की परिधि मे किसी स्वतत्र शौरसेनी ग्रन्थ की रचना सर्वथा असंभव है और पश्चाद्वर्ती भेद को प्राप्त सामान्य प्राकृतों का प्रयोग उनमें अवश्यभावी है और इसीलिए अर्धमागधी (मिश्रित) भाषा की मुख्यता है। उदाहरण के लिए 'विज्जाणण्द' शब्द का उल्लेख हम कर ही चुके है। पाठक विचारे कि कैसे कोई ग्रन्थ मात्र शौरसेनी मे निर्मित होना संभव है? धाधली और दुराग्रह का इस अर्थ युग में कोई इलाज नही चाहे कोई भी किसी रचना को किसी भाषा की घोषित कर पुरस्कारो की घोषणा करता रहे। पैसे वालो को क्या रोक है। फिर पैसे के शैदाइयो की कमी भी तो नहीं। ऐसे ही मे तो आचार मे भी बदलाव परिलक्षित होता है। हम श्रावकों और मुनियो तक मे मूलगुणो का पूर्ण अस्तित्व नही रह गया है। लोभ रूप परिग्रह जो भी अनर्थ करा दे वह थोडा है।

प्रसंगमे यह तो संशोधकों को सोचना है कि वे कौनसी नीति को अपना कर स्वयं पूर्वाचार्यो के अपमान पर कमर कसे हुए है और क्यो टिप्पण देने से कतरा रहे है। उनकी दृष्टि मे जिन आचार्यो ने **'अरिहंताणं'** पाठ दिया है क्या उन्हीं आचार्यो ने अपनी रचनाओ मे शौरसेनी—बाह्य बहुत से शब्द प्रयोग

नही दिए? या अन्य प्रतिष्ठित आचार्यो ने 'अरहंताण' का प्रयोग नही किया? क्या वे आचार्य मिथ्या है? उदाहरण के लिए पुष्पदन्ताचार्य, वीरसेनाचार्य के प्रयुक्त शौरसेनी–बाह्य निम्न शब्द रूप ही देखे जॉय–

षट्खंडागम मूलसूत्र = ११९२ में **'सम्माइट्ठी**। सूत्र ११६० व १७७ में **विग्गहगइ'**। सूत्र ११२७ व १७३ में **'वीयराय'** सूत्र ११४ 'गइ'। **'सम्माइट्ठी' 'मिच्छाइट्ठी'** अनेक सूत्रों में।

षटखंडागम टीका = ११ पृ १७१ **'उच्चइ' कुणइ, पडिवज्जइ, ढुक्कइ**। पृ ६८ **'अस्सिऊण'** पृ ६८ **'जयउ-सुय-देवदा', 'भणिऊण'** आदि। इसी प्रकार अन्य बहुत से शब्द है।

पाठक यह भी विचारें कि जब वीरसेनाचार्य णमोकारमंत्र की संस्कृत भाषा संबंधी व्याख्या में 'अर्हन्त' शब्द की बैकल्पिक व्युत्पत्ति 'अतिशय पूजार्हत्वाद्वार्हन्त'' लिख रहे हैं, तो 'अर्ह' धातु निष्पन्न सस्कृत 'अर्हन्त' शब्द का प्राकृत रूप 'अरहंत' होगा या 'अरिहंत'? यदि शौरसेनी मे 'इकार' करने के लिए निर्धारित कोई सूत्र हो तो दृष्टिगत होना चाहिए।

सर्वविदित है कि दिगम्बरो को परवर्ती सिद्ध करने के लिए विपक्षियों के प्रयास दीर्घकाल से चले आ रहे हैं। वे इस उपक्रम में कुन्दकुन्द आचार्य को पॉचवी–छठवी शताब्दी तक ले जाने के प्रयत्न करते रहे है। इसी प्रकार वे दिगम्बर आगमो को परवर्ती और तीर्थकर व गणधर की वाणी से बाह्य सिद्ध करने के लिए उन्हे अर्धमागधी हीन बतलाकर शौरसेनी भाषा मे निबद्ध होने की बात करते रहे है। जबकि स्वयं दिगम्बर लोग गणधर की वाणी को अर्धमागधी (मिली जुली भाषा –जैन शौरसेनी) घोषित करते हैं।

मुनि गुलाबचन्द 'निर्मोही' ने 'तुलसी–प्रज्ञा' के अक्टुबर–दिसम्बर ६४ के अंक मे पृ १६० पर लिखा है 'जैन तीर्थकर' प्राकृत अर्धमागधी में प्रवचन करते थें उनकी वाणी का संग्रह आगमग्रन्थों में ग्रथित हुआ है। श्वेताम्बर जैनों के आगम अर्धमागधी भाषा मे रचित हैं। दिगम्बर जैन सहित्य षट्खंडागम, कसायपाहुड, समयसार आदि शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध है, इसी लेख में पृ १८२ पर उन्होने व्याकरण रचियता काल (भाषा भेद काल) भी दिया है जिसका प्रारम्भ २–३ शताब्दी से लिखा है। यह सब दिगम्बर आगमो को तीर्थकर वाणी बाह्य और पश्चादवर्ती सिद्ध करने के प्रयत्न हैं। दिगम्बरो को यह सोचना चाहिए कि क्यो (अनजाने मे) वे दिगम्बरत्व को स्वयं ही पीछे धकेल रहे हैं?

हमारा तो इतना ही निवेदन है कि सशोधक टिप्पण दें और यदि प्राकृत में उनका प्रखर ज्ञान है तो अपने स्वतंत्र ग्रन्थ रचकर शास्त्राचार्यो की श्रेणी में बैठ जॉय। इस भांति उनकी प्रतिष्ठा भी होगी और प्राचीन आगम विरूप होने से भी बच जाऍंगे। यह विषय अन्य विवाद में उलझने, उलझाने का नहीं– टिप्पण देकर सभी दिगम्बर आगमों के संरक्षण का है।

जैन- शौरसेनी किं वा शौरसेनी

❑लेखक : एम० एल० जैन

कुन्दकुन्द भारती द्वारा सम्पादित १९९४ में प्रकाशित समयसार के द्वितीय संस्करण के 'मुन्नडि' में भाषा विचार शीर्षक के अन्तर्गत बताया गया था कि प्राकृत में कई भेद हो गए, यथा मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, पाली, पैशाची। डॉ० पिशल आदि विद्वानों ने जैन महाराष्ट्री व जैन शौरसेनी रूप भी स्वीकार किया है। अर्धमागधी जैन आगम की भाषा है। क्योंकि दिगम्बर सम्प्रदाय की कुछ रचनाओं में शौरसेनी की अधिकांश विशेषताएं उपलब्ध होती है, इसलिए उसे जैन शौरसेनी माना गया है। कुन्दकुन्द की सभी रचनाएं जैन– शौरसेनी मे रची गई हैं। वे जैन– शौरसैनी के आद्य कवि और रचनाकार माने जाते हैं।

किन्तु इस वर्ष १९९४ मे अक्टूबर में जो गोष्ठी कुन्दकुन्द भारती मे शौरसेनी प्राकृत पर आयोजित हुई, उसी समय के आसपास से उपरोक्त मान्यताओं में परिवर्तन आया जान पडता है और ''प्राकृत विद्या' में छपे लेखों आदि में जो प्रतिपादित किया गया है उसका सार यह है कि तमाम प्राकृतों के मूल में है शौरसेनी प्राकृत और शुद्ध शौरसेनी प्राकृत वही है जिसमें दिगम्बर जैन आगम (षट्खण्डागम आदि) निबद्ध हैं और यह शौरसेनी अपने व्याकरण के नियमों के अनुसार है, किन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने जैन शौरसेनी, जैन महाराष्ट्री आदि नाम देकर हमारी भाषाओ का विभाजन कर दिया है।१

स्वर्गीय पण्डित हीरालाल ने १९७७ के अपने एक लेख में प्राकृत व्याकरण के नियम तो वही बताए जो आचार्य हेमचन्द्र ने निर्धारित किए हैं परन्तु उनके सूत्र 'प्रकृति संस्कृतम् तत्र भवं तत् आगतं वा प्राकृतम्'' को नजर अंदाज करते हुए यह अन्दाज लगाया कि प्राकृत की शाखा मागधी, अर्ध मागधी या महाराष्ट्री आदि प्राचीन बोलचाल की प्राकृतिक (स्वाभाविक) बोलियों का संस्कार करके संस्कृत भाषा के रूप मे तात्कालिक महर्षियों ने एक अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का निर्माण किया३ (शायद उसी तरह जैसे खडी बोली हिन्दी ने अन्य प्रादेशिक भाषाओं राजस्थानी, बृज व अवधी आदि को पीछे धकेल दिया।)

अब यह तो साफ है कि हमारे मनीषी प्राकृत भाषा के ज्ञान के साथ साथ भाषा–विज्ञान में भी महारत रखते हैं और जैन शास्त्रों के साथ साथ उनके

समकालीन अन्य ऐसे लेख–प्रलेखों की जिनमें उन जैसी ही भाषा का प्रयोग हुआ है, तुलनात्मक गवेषणा करके ही उनने नवीनतम निष्कर्ष स्थापित किया है।४

यद्यपि यह तो सही है कि संस्कृत से पहले जन भाषाए रही होंगी परन्तु यह भी सही लगता है कि वे भाषाएं वे प्राकृत नहीं थीं, न हो सकती थीं जिन्हे हम अब महाराष्ट्री शौरसेनी आदि प्राकृतों के नाम से पहचानते हैं

अगर मूल शौरसेनी जो भारत के विस्तृत क्षेत्र मे प्रचलित थी और उसे जैन शौरसेनी संज्ञा दी गई है, तो मै सोचता हूं कि यह एक अच्छी बात है ओर हमारे विद्वानों को तथ्य परक तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा ऐसी मजबूती से यह साबित कर दिखाना चाहिए कि जिसे जैन शौरसैनी भाषा कहा जाता है वह भाषा ही सर्वत्र प्रचलित थी, मानों एक समय वही भारत की न सही, आर्यावर्त की 'निज भाषा' राष्ट्रभाषा थी, ताकि भाषा विज्ञान के क्षेत्र में इन नवीन विचारों को मान्यता मिल सके।५

सोचने की बात यह भी है कि यदि शौरसेनी ही सर्वत्र प्रचलित थी तो फिर महावीर के संदेश अर्धमागधी व शौरसेनी में तथा बुद्ध के पाली (मागधी) में यानि अलग अलग प्राकृतों मे क्यो दिए गए जबकि दोनो एक ही समय और प्रदेश में आम जनता को उसकी भाषा में (न कि संस्कृत में) अपना संदेश दे रहे थे।६

हमें यह भी ध्यान मे रखना है कि जब कुन्दकुन्द साहित्य सर्जन कर रहे थे तब एक समानान्तर 'अणज्ज' भाषा भी प्रचलित थी जिसका ज्ञान भी 'अज्जो को' अणज्जों' को समझाने के लिए जरूरी था।७

किन्तु अभी तक जो कहा गया है वह यह है कि तीर्थकरो के संदेशों, आगमो व आचार्यो के लेख का माध्यम प्राकृत रही है, वैदिक साहित्य में प्राकृत के तत्व प्रचुरता से प्राप्त होते हैं, प्राय सभी लोक गीत प्राकृत के ही रहे हैं, अति प्राचीन काल से प्राय समस्त भारतवासी प्राकृत भाषा भाषी थे, सिधु सभ्यता की भाषा प्राकृत थी, अशोक, खारवेल और सातवाहन नरेशों के शिलालेखों की भाषा प्राय शौरसेनी प्राकृत है और शौरसेनी प्राकृत शूरसेन जनपद की ही भाषा न थी किन्तु अफगानिस्तान से लेकर बर्मा और तिब्बत से लेकर श्रीलका मे चिरकाल से प्राकृत भाषा शासन करती रही है। अफगानिस्तान में इसे निया प्राकृत नाम मिला, तो बंग प्रदेश व बर्मा में मागधी रूप प्रचलित रहा, शेष भारत में कहीं अर्धमागधी, कहीं पैशाची, कही वाल्हीकी और कहीं महाराष्ट्री सज्ञा प्राप्त हुई।८ यहां, यदि प्राकृत से मतलब अनेक भाषाओं के समूह से नहीं है, तो ये सब विचार परिपक्व पुष्टता की प्रतीक्षा में है।

वररूचि सहित९ भारत के तमाम वैय्याकरण इस बात पर एक मत हैं कि

प्राकृत सस्कृत से निर्गत हुई है किन्तु प्राकृत भाषा का विशद अध्ययन करके पिशल आदि विद्वान् इस निर्णय पर पहुचे हैं कि प्राकृत भाषा के मूल मे केवल एक संस्कृत भाषा ही नही अन्य बोलिया भी है तथापि यह भी स्वयं सिद्ध है कि संस्कृत भाषा ही प्राकृत की आधारशिला है।१० दरअसल, प्राकृत यह नाम भी बाद मे सस्कृत के संदर्भ में दिया गया है। खोज का विषय यह है कि इस भाषा का उस समय जब वह आम बोलचाल की भाषा रही थी, असली क्या नाम था। यदि प्राकृत मे ही यह नाम होता, तो पाउअ, पाउड, पाइअ ऐसा कुछ नाम होता जिसका संस्कृतीकरण होकर प्राकृत नाम पडा। ऐसी कोई उलझन पिशल के सामने भी थी और उसने अपनी व्याकरण का प्रारंभ यह कह कर किया है कि 'भारतीय वैयाकरणो और अलंकार शास्त्र के लेखकों ने कई साहित्यिक भाषाओं के समूह का नाम प्राकृत रखा है।''

सातवी सदी के जैन महाकवि रविषेण ने तो लिखा है—

नामाख्यातोपसर्गेषु निपातेषु च संस्कृता
प्राकृती शौरसेनी च भाषा यत्र त्रयी स्मृता।।११

इससे जाहिर होता है कि रविषेण के समय मे सस्कृत, प्राकृत और शौरसेनी ने ये तीन अलग अलग भाषाएं मानी जाती थी। प्राकृत से रविषेण का मतलब वह भाषा होना चाहिए जिसे महाराष्ट्री प्राकृत कहते है। यही मत स्वर्गीय पण्डित हीरालाल का जान पडता है। उनके लेख मे जो तुलनात्मक तालिका दी हुई हैं, उसमे उनके प्राकृत और शौरसैनी को अलग मान कर प्राकृत (महाराष्ट्री) और शौरसैनी का अन्तर स्पष्ट किया है।१२ वररूचि ने अन्य प्राकृत मागधी, पैशाची को शौरसेनी प्राकृत से निर्गत माना है और इन तीनो भाषाओ के विशिष्ट नियम देकर शेष के लिए महाराष्ट्रीवत् करार दिया है।१३ यदि छठी सदी के वररूचि व सातवी सदी के रविषेण द्वारा दी गई जानकारी का कोई मेल बिठाया जाए, तो कहना होगा कि शौरसेनी प्राकृत ने सातवीं सदी के आते आते यों कहिए कि एक सौ साल के अतराल में प्राकृत से भिन्न एक स्वतंत्र अस्तित्व प्राप्त कर लिया और वह केवल शौरसेनी नाम से जानी जाने लगी। किन्तु शौरसेनी फिर अपना वर्चस्व खो बैठी और प्रकृतो में ही गिनी जाने लगी।

वास्तव में बात यह है कि जब जन साधारण की भाषा साहित्य और दर्शन की भाषा, वह भी पद्यमय, बनती है तो उसका सस्कार हो जाना लाजमी है। इसलिए पिशल को कहना पडा कि प्राकृत भाषाएं अतत कृत्रिम व काव्य की भाषाएं हो गई जैसे कि सस्कृत हुई।१४ जब भाषा विज्ञानियो ने बाद में उनीसवीं सदी में आकर इन भाषाओ में रचित साहित्य का गहन अध्ययन किया तो पता चला कि जैन आगमों की भाषा न पूर्णतः महाराष्ट्री है, न पूर्णत शौरसेनी, यह

एक ऐसी समृद्ध भाषा है जो केवल जैन आगमों में ही पाई जाती है या जिसे नाटकों में जैन पात्र बोलते थे तो, उसे इस विशिष्टता के कारण जैन महाराष्ट्री व जैन शौरसेनी ये नाम देने पडे। इसलिए यह शिकायत कि जैन विशेषण लगाकर विदेशी विद्वानों ने राजनैतिक व सामाजिक विभाजन की नीति के अनुरूप भाषाओ का भी विभाजन कर दिया, सही नहीं है।१५

नवीन धारणा के क्रम में अब यह कठिनाई आई कि शौरसेनी तो मथुरा के आसपास की भाषा थी,१६ तो फिर दक्षिण प्रदेश के आचार्यो ने शास्त्र इस भाषा में क्यो लिखे। हो न हो इस भाषा का दक्षिण में आम प्रचलन रहा होगा। इन विद्वानों ने अदाज लगाया कि मथुरा व्यापार का बडा केन्द्र था, उत्तर-दक्षिण के तीर्थो की यात्रा का मार्ग भी मथुरा होकर था, इसलिए व्यापारी व तीर्थयात्री इस भाषा को दक्षिण में भी ले गए। बात यह भी थी कि भद्रबाहु व उनके हजारों शिष्यों ने दक्षिण मे शौरसेनी में उपदेश दिए इसलिए वहा के लोग इस भाषा को सीख ही गए होंगे और जब इतना व्यापक सम्पर्क व प्रचार हो गया तो आचार्यो ने यह भाषा ही शास्त्र रचना के लिए सर्वोपयोगी पाई। मेरे विचार से इतनी ऊहा पोह की जरूरत नहीं थी। सरल अनुमान यह है कि मूल आगम गिरनार की गुफा में अवतरित हुआ और भूतबलि व पुष्पदत ने जिस भाषा में उसे निबद्ध किया, जैन दर्शन में रूचि रखने वाले आचार्यो ने उस भाषा को अवश्य ही सीखा होगा और जब वे इस भाषा मे पारगत हो गए तो साहित्य सर्जन मे क्या कठिनाई हो सकती थी? आज भी हिन्दी या अन्य भाषा भाषी लोग संस्कृत मे लिख पढ रहे है, प्राकृत में काव्य रचना कर रहे है। ठीक उसी प्रकार दक्षिण के विद्वानो ने शास्त्र रचनाकी है। अलबत्ता, प्राकृत भाषा की प्रमुख पत्रिका 'प्राकृत विद्या' के हर अक मे संपादकीय अथवा कम से कम एक लेख शौरसेनी गद्य में अनिवार्यत प्रकाशित किया जाए तो शौरसेनी के मूल रूप को समझने तथा उसे प्रचार प्रसार में एक बडा योगदान होगा। इसके अलावा जब जहां भी प्राकृत भाषा की शिक्षा दी जाए, तो यह सुनिश्चित किया जाए कि इसके पाठ्यक्रमों के लिए जो पुस्तकें तैयार हो उनमे शौरसेनी के सिलसिले में षट्खण्डागम आदि के उद्धरण व उदाहरण अवश्य दिए जाएं।

इसी विचार मथन के सिलसिले में एक सुझाव यह भी आया१७ कि आगम ग्रंथों के गलत सूत्रपाठ करने वाले व्यक्ति को दोषी माना गया है, अतः न केवल मुनिगण अपितु आचार्यवृन्द इस बात की आवश्यकता को समझें कि शौरसेनी भाषा का ज्ञान अर्जित किए बिना किसी नव दीक्षार्थी को दीक्षा न दें। भला जो प्रतिक्रमण सूत्र तक ठीक से नहीं पढ सकते हैं वे उसका अर्थबोध कैसे कर सकेंगे तथा इन दोनों के अभाव में मुनिधर्म के नित्य कर्म कैसे संपादित कर सकेंगे।

यह सुझाव बडा ही दिलचस्प है। इसके अनुसार तो छठे सातवें गुणस्थान पर वैराग्य को प्राप्त होते हुए भी व्यक्ति मुनि नहीं बन सकेगा क्योंकि उसे शौरसेनी नहीं आती। सोचना यह है कि क्या प्रतिक्रमण संस्कृत या हिन्दी या अन्य किसी भाषा में नहीं किया जा सकता? क्या वैराग्य या प्रतिक्रमण या चारित्र की भाषा से अपरिहार्य संबंध है? अधिक अच्छा सुझाव यह होता कि हमारे साधुगण शास्त्रों को मूल मे पढ समझ सकें इसलिए इस और भी प्रयास होना चाहिए।

मैं न तो भाषाविद्, न भाषा वैज्ञानिक। फिर भी, इस विवाद में मेरा अपना ख्याल यह है कि जैन आगमों की भाषा को केवल शौरसेनी कहें या जैन शौरसेनी, इससे उनके समय, अर्थ और महत्व पर कोई प्रभाव नहीं पडता।

संपादकीय टिप्पणी :

विद्वान् लेखक ने परिश्रम पूर्वक खोज की है और विभिन्न मतों को समक्ष रखा है जो चिन्तनीय है। अन्तिम पैरा में लिखा है– "आगमो की भाषा को केवल शौरसेनी कहे या जैन शौरसेनी, इससे उनके समय, अर्थ और महत्व पर कोई प्रभाव नहीं पडता।' हमारा मन्तव्य है कि भाषा भेद व्याकरण निर्मित होने के समय ई० २–३ शताब्दी में प्रकाश में आए। यदि भाषा को शौरसेनी मात्र मान लिया जायगा, तो कुन्दकुन्द और सभी दिगम्बर आगम पश्चाद्वर्ती सिद्ध होंगे। यहाँ तक कि (जैसा इसी अंक के हमारे लेख में है) णमोकार मंत्र और अन्य कई शब्द शौरसेनी व्याकरण से मान्य नहीं ठहरेंगे। विद्वान् लेखक इसे भी सोचें कि भेद को प्राप्त शौरसेनी भाषा के नियमों मात्र (जो सीमित है) से किसी ग्रन्थ की रचना हो सकेगी क्या? जब कि शौरसेनी घोषक प्राकृत में व्याकरण की दुहाई देते रहे हैं और हमारी दृष्टि में प्राकृत भाषा स्वाभाविक और मिली जुली है।

संदर्भ-टिप्पणी

१. कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली, द्वारा अलग से प्रकाशित पुस्तिका में पं० बलभद्र जी के लेख मूलसंघ की आगम भाषा शौरसेनी के पृष्ठ ३ का अंतिम पैरां।
२. उपरोक्त पुस्तिका तथा प्राकृत विद्या, वर्ष ६, अंक ४, जनवरी–मार्च १९९५, पृष्ठ १४ पर छपा लेख शौरसेनी आगम साहित्य की भाषा।
३. शुरु के कुछेक पाश्चात्य चिन्तकों डूगल स्टेवार्ट एवं CW WAll की भी कुछ इसी प्रकार की धारणा थी कि संस्कृत भाषा चालाक ब्राह्मणों द्वारा की गई जालसाजी है, परन्तु उन्हें कोई समर्थन नहीं मिला। देखें। Macdonell, History of Sanskrit Literature chap I Para I.

४. प्राकृत विधा, वर्ष ६, अंक २ जुलाई–सितम्बर, १६६४, पृष्ठ ४२ ४३ पर पूज्य आचार्य विद्यानंदजी महाराज ने यह मत व्यक्त किया था कि वस्तुतः जनबोली प्राकृत मागधी ही रही है।

५. पिशल के हिन्दी अनुवादक डा० हेमचन्द्र जोशी ने अपने आमुख पृष्ठ ३ पर लिखा है कि भारत की किसी आर्यभाषा और विशेषकर नवीन भारतीय भाषाओं पर कुछ लिखने के लिए केवल भारत की ही प्राचीन मध्यकालीन नवीन आर्यभाषाओं के ज्ञान की ही नहीं अपितु ग्रीक, लेटिन, गौथिक, प्राचीन स्लैविक, ईरानी, आरमीनीयन आदि कम से कम बीस पच्चीस भाषाओं के भाषाशास्त्रीय ज्ञान की आवश्यकता है। देखें · डॉ० हेमचन्द्र जोशी द्वारा अनुवादित प्राकृत भाषाओं का व्याकरण जो १६५८ मे बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् द्वारा प्रकाशित हुआ है।

६. बौद्ध आगम का नाम ही पाली है– किन्तु उनकी भाषा मागधी है न कि अर्द्ध मागधी। ग्रंथों के नाम से बाद में उस मागधी का नाम भी पाली पड गया।

७. समय सार, कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली, गाथा १–८–८

जहण वि सक्कमणज्जों अणज्ज भासं विणा दु गाहेदुं
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं।

टीकाकारो ने यह बताया है कि ये अनार्य वे है जिन्हें म्लैच्छ कहा जाता है। तत्वार्थसूत्र के सूत्र आर्यम्लेच्छाश्च ३।३६ की टीका में पूज्यपाद ने सर्वाथसिद्धि में इनका विशद विवरण दिया है जिनमे अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ, शक, यवन, शबर और पुलिन्दादिक शामिल है। जाहिर है कि आज की भाति ये म्लेच्छ संख्या में आर्यो से कम नहीं रहे होंगे और उनकी भाषा को नजरअंदाज करना मुश्किल काम है। तात्पर्यवृत्ति में जयसेन ने एक ब्राह्मण का म्लेच्छो की बस्ती में जाने का वर्णन किया भी है।

८. जैन, डॉ० सुदीप, संपादकीय लेख प्राकृत विद्या, वर्ष ६ अंक ४, जनवरी मार्च, १६६५

यदि प्रदेश के अनुसार प्राकृत भाषा का नामकरण सही हुआ है तो उपलब्ध साहित्य व आगम की भाषा की विशेषताओं के कारण नामकरण क्योंकर उचित नहीं है?

६. वररूचि, प्राकृत प्रकाश, द्वादश परिच्छेद, सूत्र २.

प्रकृति संस्कृतम्, शौरसेन्या ये शब्दास्तेषां प्रकृति संस्कृतम्।

१०. पिशल, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, अनुवादक डॉ० हेमचन्द्र जोशी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् १६५८, पृष्ठ ६३–६४, पैरा ४४। प्राकृत में द्विवचन व सम्प्रदान कारक का लोप भी इसी ओर संकेत करता है।

११. रविषेण, पदमपुराण, भा० ज्ञानपीठ, १६४४, श्लोक २४।११

१२. उपरोक्त टिप्पण २, लेख की तालिका व उसके नीचे का नोट देखें। दण्डिन् के काव्यादर्श (१।२४) में भी लिखा कि महाराष्ट्रामयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदु.। सागर सूक्ति रत्नानां सेतुं बंधादि यन्मयम्।

१३. उपरोक्त टिप्पण ६।

१४. उपरोक्त टिप्पण १०, देखें पृष्ठ ८, पैरा ६।

१५. सबसे पहले चण्ड (१५ वीं सदी) ने प्राकृत लक्षणम् में स्पष्ट ही महाराष्ट्री, जैन महाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैन शौरसैनी का वर्णन किया है। इसके बाद हरमेन जकोबी आदि विद्वानों ने भी इसे स्वीकार किया है।

डॉ शशिकान्त का मंतव्य है कि महावीर के नाम से उनके ५००–१००० वर्षों बाद जो कुछ सरक्षित किया गया उसकी भाषा संरक्षण कर्ताओं की भाषा है, स्वयं महावीर की नहीं। उसे आर्य या आगमिक कहना उचित नहीं। जैन दिगम्बर आगमों की भाषा शौरसेनी है और श्वेताम्बर आगमों की अर्धमागधी और जैन महाराष्ट्री है। देखे, शोधादर्श अंक २६, जुलाई १६६५, पृ १७०–१७३ पर प्रकाशित 'भगवान महावीर की प्राकृत' शीर्षक लेख।

१६ पन्नवणा सूत्र की टीका मे मलयगिरी ने तो सूरसेन की राजधानी पावा कहकर बिहार के अन्तर्गत सूरसेन देश को माना है। मलयगिरी ने जमानें मे यही धारणा रही होगी

१७. प्राकृत विद्या, वर्ष ७, अंक। अप्रैल–जून, १६६५ सम्पादकीय पृष्ठ ६।

पू० आचार्य महाराज की सीख

"हमको कोई भी ग्रन्थ लिखते समय अथवा किसी ग्रन्थ की टीका करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है कि **एक भी अक्षर** परम प्रामाणिक जिनवाणी (जो कि कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, पूज्यवाद, अकलकदेव, वीरसेन, विद्यानन्दि आदि आचार्यो के आर्ष ग्रन्थों में विद्यमान है) के विरूद्ध न हो। **प्रत्येक शब्द उन आर्ष ग्रन्थों के अनुसार हो**, ऐसा ध्यान रखकर गहरे अध्ययन के साथ जब हम कुछ सावधानी से लिखेंगे तब हमारा लिखा हुआ लेख या ग्रन्थ प्रामाणिक होगा, स्व–पर–कल्याणकारी होगा और हमारी स्वच्छ कीर्ति का दृढ स्तम्भ होगा। विकृत–ग्रन्थों का पठन, पाठन, अवलोकन, स्वाध्याय, ग्रन्थ भण्डारों मे रखना निषिद्ध होना चाहिए जिससे भोले–भाले, अपरिचित स्त्री पुरुषों का अहित न होने पावे।"

— **दि० जैन साहित्य में विकार**

परमपूज्य १०८ आचार्य सूर्यसागर जी के उद्गार

त्यागी को किसी संस्थावाद में नहीं पडना चाहिए। यह कार्य गृहस्थों का है। त्यागी को इस दलदल से दूर रहना चाहिए। घर छोडा व्यापार छोडा इस भावनासे कि हमारा कर्तृत्व का अहभाव दूर हों और समताभव से आत्म कल्याण करें। पर, त्यागी होने पर भी वह बना रहा तो क्या किया? इस संस्थावाद के दलदल में फॅसाने वाला तत्त्व लोकैषणा से क्या होने जाने वाला है? जब तक लोगो का स्वार्थ किसी से सिद्ध होता है तब तक वे उसके गीत गाते है और जब स्वार्थ मे कमी पड जाती है तो फिर टके को भी नहीं पूछते। इस लिए आत्म परिणामों पर दृष्टि रखते हुए जितना उपदेश बन सके उतना त्यागी दे, अधिक की व्यग्रता न करे।

आज व्रतीवर्ग चाहे मुनि हो, चाहे श्रावक, स्वच्छन्द होकर विचरना चाहता है। मुनियों में तो उस मुनि को एकाविहारी होने की आज्ञा है जो गुरु के समीप रहकर अपने आचार–विचार मे पूर्ण दक्ष हो तथा धर्मप्रचार की भावना से गुरु जिसके एकाकी विहारं करने की आज्ञा दे दें। आज यह देखा जाता है कि जिस गुरु से दीक्षा लेते हैं उसी गुरु की आज्ञा पालन में अपने को असमर्थ देख नवदीक्षित मुनि स्वय एकाकी विहार करने लगते हैं। गुरु के साथ अथवा अन्य साथियो के साथ विहार करने में इस बात की लज्जा या भय का अस्तित्व रहता था कि यदि हमारी प्रवृत्ति आगम के विरूद्ध होगी तो लोग हमें बुरा कहेंगे, गुरु प्रायश्चित्त देगे पर एकाविहारी होने पर किसका भय रहा? जनता भोली है इसलिए कुछ कहती नही, यदि कहती है तो उसे धर्म निन्दक आदि कहकर चुप कर दिया जाता है। इस तरह धीरे–धीरे शिथिला चार फैलता जा रहा है। कोई ग्रन्थमालाओ के संचालक बने हुए है तो कोई ग्रन्थ छपवाने के संचालक बने हुए हैं तो कोई ग्रन्थ छपावने की चिन्ता मे गृहस्थो के घर–घर चन्दा मॉगते फिरते हैं। किन्हीं के साथ मोटरें चलती है तो किन्हीं के साथ गृहस्थ जन दुर्लभ कीमती चटाइयां और आसन के पाटे तथ छोलदारियां चलती है। त्यागी ब्रह्मचारी लोग अपने लिए आश्रय या उनकी सेवा में लीन रहते हैं। 'बहती गंगामें हाथ धोने से क्यो चूंके? कितने ही विद्वान उनके अनुयायी बन ऑख मीच चुप बैठ जाते है या हॉ ये हॉ मिला गुरु भक्ति का प्रमाण पत्र प्राप्त करने में संलग्न रहते हैं।'

❑ **(मेरी जीवन गाथा से)**

लोक-प्रशंसा

मनुष्य में सबसे बडा अवगुण अपनी प्रतिष्ठा का है। प्राय अधिकांश मनुष्य अपनी प्रशंसा चाहते हैं। प्रशंसा के लिए वे नाना प्रकार के कष्टों को सहन करते हैं। व्रत करें, उपवास करें एक बार भोजन करें। कहॉ तक कहें तिल तुष मात्र परिग्रह भी न रखें। केवल लोग हमको उत्तम कहें ऐसी जिनकी अभिलाषा है उनका यह बाह्य त्याग दम्भ ही है। (३० ।४ ।४७)

लोकेषणा बहुत ही प्रबल संसार वर्धक अनात्मीय भावों की जननी है। बहुत ही कम महानुभाव ऐसे होंगे जो इसके रंग से बचे हों। (७—८—४७)

शान्ति का मार्ग इस लोकेषणा से परे है। लोक प्रतिष्ठा के अर्थ त्यागव्रत संयमादि का अर्जन करना धूल के अर्थ रत्न को चूर्ण करने के समान है। सामान्य मनुष्यों की कथा तो छोडो किन्तु जो विद्वान् है वह भी जो कार्य करते है आत्मप्रतिष्ठां के लिए ही करते है। यदि वह व्याख्यान देते है तब यही भाव उनके मन में रहता है कि हमारे व्याख्यान की प्रशसा हो। अर्थात् लोग कहे कि महाराज, आप धन्य है, हमने तो ऐसा व्याख्यान नहीं सुना जैसा श्रीमुख से निर्गत हुआ। हम लोगों का सौभाग्य था जो आप जैसे सत्पुरुषों द्वारा हमारा ग्राम पवित्र हुआ। इत्यादि वाक्यो को सुनकर व्याख्याता महोदय हृदय में प्रसन्न हो जाते है। (२४—६—५१)

यदि आज हम लोग प्रशंसा को त्याग देवें तो अनायास ही सुखी हो सकते है। परन्तु लोकेषणा के प्रभाव में हैं। यही हमारे कल्याण मे बाधक है। (२७—१२—५१) (वर्णीवाणी से)

संपादकीय

लोकेषणा भी परिग्रह में गर्भित है। आज लोकेषणा जैसी व्याधि से समस्त लोक ग्रसित है। श्रावक की तो बात ही क्या? पू०आ० सूर्यसागर महाराज के मत में तो मुनि भी इससे अछूते नहीं बचे। यदि कोई व्यापारी स्व लाभ को भूल जाय और केवल दूसरो को अर्थ अर्जन का उपाय बतलाने के धन्धे में लग जाय तो उसका व्यापार चौपट ही समझिए। वही अवस्था आचार्य महाराज ने अपने कथन में इगित की है और पूज्य वर्णी जी ने भी प्रतिष्ठा—प्राप्ति के कथन में लिखा है। आज तो स्थिति और भी बिगड गई जैसी है। यहॉ तक देखा जा रहा है कि जिस मुनि मुद्रा और मुनि क्रिया को देखकर श्रावक को संसार शरीर और भोग से विराग होना चाहिए। श्रावक को वह विराग नहीं मिल पा रहा अपितु उल्टे श्रावको ने ही विरागी को राग मार्ग मे लगा दिया है। वे भांति भांति के उपकरण (जो नही जुटाने चाहिए) त्यागियों को अपने स्वार्थ साधन आशीर्वाद प्राप्ति के लिए जुटा रहे हैं। श्रावकों को ऐसे कार्यो से विरत होना चाहिए क्योंकि ऐसे सब साधन दिगम्बर मुद्रा के लोप के कारण है। आज के युग में आशीर्वाद का तो नाम मात्र शेष है।

१. कल्पवृक्षों की भूमि केरल

❑ श्री राजमल जैन

सोलहवीं सदी के एक अज्ञातनाम नंपूतिरि कवि ने रचना 'चद्रोत्सव' में केरल की प्रशंसा में अपने उद्गार इस प्रकार प्रकट किए हैं–

परमृतमोषि चटटु मटटु खण्ड्. ड. लेटटु
पटविलुमधिक हृधं दक्षिणम भारताख्यम।
विलनिलमलरमातिन्न गजन्नुं त्रिलोको
चेरू नाटु कुरि पोले चेरमान् नाटु यस्मिन्।।

अर्थात् हे परभूतवाणि चारों तरफ आठ और खण्ड हैं। पर उनमें दक्षिण नामक यह खण्ड अधिक हृद्य है। लक्ष्मी और सौंदर्य देवी की जन्मभूमि के तीनों लोक के तिलकबिंदु के समान यह हमारा चेरमान नाटु (चेर राजा का) केरल है।

उपर्युक्त कवि हमारेदेश की उस भौगोलिक परम्परा की ओर संकेत कर रहा है जिसके अनुसार भरतखण्ड के इस नौवें खण्ड को कुमारी खण्ड या कुमारी द्वीप कहा जाता था। वैदिक धारा के वामनपुराण ने सागर मे घिरे इस कुमारी द्वीप के दक्षिण में आंध्रो को वहां का निवासी बताया है। इस पुराण ने कुमारी द्वीप से भारत का भी आशय लिया है। यह पुराण भारत को गंगा के उद्भव स्थान से लेकर कुमारी अतरीप तक फैला हुआ बताता है। जो भी हो, केरल का कुमारी अंतरीप से अन्यतम संबंध तो है ही।

इस पारपरिक नाम की ओर संकेत करने के अतिरिक्त कवि ने चेर देश याकेरल को लक्ष्मी और सौंदर्य देवी की जन्मभूमि भी कहा है। श्रीदेवी या लक्ष्मी की कृपा तो केरल पर सदा ही रही है। अत्यंत प्राचीन काल से ही रोम, यूनान और अरब देशों से अपने मसालों, इलायची, काजू आदि के बदले में केरल स्वर्ण मुद्रा अर्जित करता रहा है और आज भी उसके निवासियों ने अरब आदि देशों मे फैलकर धन अर्जित करने का क्रम जारी रखा है।

प्रकृति ने केरल को अनुपम छटा भी प्रदान की है। उसके लंबे समुद्रतट हरे–भरे ऊचे पर्वत झीले, नदियां और हरीतिमा लिए घाटियां, उनमें लहराती नारियल, धान आदि की खेती ने उसे सचमुच ही शस्यश्यामलाया प्रकृति की अनुपम कृति बना दिया है। तभी तो मलयालम के सुप्रसिद्ध कवि वळ्ळतोल

ने इस सौदर्य के एक पक्ष का वर्णन अपनी कविता 'मातृंवदनम्' में बहुत सुंदर रूपक में किया है जिसका भाव इस प्रकार है— माता की वंदना करो, माता की वंदना करो, उपास्यों द्वारा भी उपास्य माता की वंदना करो। समुद्र की लहरें सदा ही सखियों की भांति समुद्र फेन के रूपहले नूपुरों को तुम्हारे चरणों में धारण करती रहती है और बारबार इसकी पुनरावृत्ति करती रहती हैं। केरल पश्चिमी तट के साथ उसकी लगभग पूरी लंबाई तक उसकी धरती के साथ–साथ चलने वाला नीले पानी की शोभा से युक्त अरब सागर भी तो उसे समुद्र फेन से निर्मित विभिन्न गहने धारण कराता रहता है। यह अरब सागर उत्तरी केरल से दक्षिण केरल तक लगभग ५६० किलोमीटर लंबाई में उसका सहयात्री है। यदि आप रेल द्वारा मंगलोर से त्रिवेंद्रम तक की यात्रा करें तो समुद्र आपके साथ–साथ चलता दिखाई देगा। केरल में अनेक आकर्षक समुद्रतट भी है जो पर्यटको को आकर्षित करते है। इस प्रदेश की हरीतिमा को देखकर इसे वन–श्री की विहार–भूमि कहा जा सकता है।

समुद्र से केरल के सबध के विषय में एक पौराणिक कथा केरल में प्रचलित है। यह कहानी मलायलम भाषा मे केरलोत्पत्ति तथा संस्कृत में केरल महात्म्य में निबद्ध है। उसके अनुसार विष्णु के अवतार माने जानेवाले परशुराम इक्कीस बार क्षत्रियो का उत्तर भारत मे सहार करने के बाद गोकर्णम् (गोआ प्रदेश) आए। वहां से उन्होंने अपना फरसा अरबसागर में फेंका। उनके और फरसे के बीच जो दूरी थी, उतने क्षेत्र से समुद्र हट गया और गोकर्ण से लेकर कन्याकुमारी तक की भूमि प्रकट हो गई। इस मान्यता के अनुसार केरल का एक नाम भार्गवक्षेत्रम् या परशुराम क्षेत्रम् भी है।

वैज्ञानिक ढंग से केरल का इतिहास लिखने वाले विद्वान इस पर विश्वास नहीं करते है। इसके सबध मे केरल नामक अग्रेजी पुस्तक के लेखक श्री कृष्ण चैतन्य ने यह मत व्यक्त किया है कि यदि आप में बालसुलभ श्रद्धा है तो आप इस पर विश्वास कर लेंगे और यदि आप प्रौढ व्यक्ति हैं तो इसे आप काव्यमय भाषा में जातीय स्मृति मानेंगे।

केरल के प्रसिद्ध इतिहासकार श्रीधर मेनन ने इस पौराणिक कथा पर अपनी संतुलित सम्मति व्यक्त करते हुए कहा है कि १८ वी या १६ वीं सदी में लिखित यह कथा कुछ निहित स्वार्थ वाले व्यक्तियो ने ब्राह्मण की श्रेष्ठता को लोकप्रिय बनाने के लिए किसी समय अपने मन मे गढ ली है।

इस बात की संभावना की जा सकती है कि परशुराम ने इस क्षेत्र को अपनी पश्चाताप–तपस्या का क्षेत्र बनाया होगा। उन्हें यहां का शांत, सुंदर प्राकृतिक वातावरण अच्छा लगा होगा। उन्होंने यहां की भूमि को अपने धर्म के प्रचार के

लिए उपयुक्त माना होगा। अनुश्रुति है कि परशुराम ने ६४ ग्राभम् में ब्राह्मणों को केरल में आबाद किया था। अहिच्छत्र से आए इन ब्राह्मणों को भी यहां का सौम्य वातावरण उपयुक्त लगा होगा।

कुछ इतिहासकारों का मत है कि केरल के हरित पर्वतों, जंगलों, गुफाओं और मैदानी भूभागों ने भी जैन मुनियों और साधकों को अपनी साधना के लिए केरल में आकर्षित किया होगा। जैन अनुश्रुति है कि ईसा से पूर्व की चौथी शताब्दी में सम्राट चद्रगुप्त मौर्य और आचार्य भद्रबाहू बारह हजार मुनियों के साथ दक्षिण में आए थे। वे दोनों तो श्रवणबेलगोल मे रह गए और शेष मुनि संघ को उन्होंने सुदूर दक्षिण में धर्म प्रचार के लिए भेज दिया। इतिहास–लेखक यह मानते हैं कि तभी से केरल में जैनधर्म का प्रवेश हुआ होगा किंतु अगले अध्याय में यह बताया गया है कि यह धर्म केरल में इससे भी पहले विद्यमान था इस बात की सभावना है। केरल ही नही, उसकी विद्यमानता का सकेत हमें श्रीलंका के इतिहास से भी मिलता है। आवश्यकता है निष्पक्ष विचार की।

परशुराम सबंधी परपरा मे केरल के जैन विश्वास नही करते हैं। वे जैनधमै के इस सिद्धांत मे आस्था रखते हैं कि इस जगत की रचना करने वाला कोई ईश्वर या तीर्थकर नहीं है। वह तो अनादि और अनत है। उसकी रचना आदि मे तीन तत्व अपना काम करते रहते है। ये है– उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य। वस्तु उत्पन्न होती है, वह नष्ट होती है कितु परिवर्तित रूप में सदा बनी रहती है। बीज से वृक्ष बनता है, वह नष्ट होता है और फिर वृक्ष बन जाता है। जहां समुद्र था, वहा जमीन उभर आती है या पर्वत निकल आते हैं। जगत का यह क्रम चलता रहता है। यह प्रकृति का नियम है, न कि किसी ईश्वर का लीला–क्षेत्र। केरल का कुछ भाग यदि समुद्र ने प्रदान किया है, तो उसने निगल भी लिया है। केरल के इतिहासकार इस बात को जानते हैं कि कन्याकुमारी के आसपास ४० मील क्षेत्र और एक नदी समुद्र की भेट चढ गयी। कन्याकुमारी घाट पर खडे होकर यदि देखे, तो ज्ञात होगा कि कुछ पर्वत चोटिया समुद्र मे अपनी गर्दन ऊपर निकालने का प्रयत्न कर रही है।

वैज्ञानिक यह मानते है कि किसी समय अरब सागर केरल के पर्वतों के मूल तक बहता था किंतु कोई ऐसी भौगोलिक उथल–पुथल हुई कि अरब सागर ने बहुत–सी धरती प्रदान कर दी और वह आगे चला गया। यही समुद्र–दत्त भूमि केरल है। भौगोलिक परिवर्तन की ओर भी अनेक घटनाएं केरल के इतिहास में विख्यात हैं। इसी प्रकार का एक स्थान श्रीमूलवासम् था जिसे समुद्र निगल गया। यह स्थान जैनधर्म से संबधित था किंतु उसे गलत साक्ष्य के आधार पर बौद्ध मान लिया गया है। इसलिए केरल के जैनेतर विचारशील जनों की भांति

वहां के जैन परशुराम कथा में विश्वास नहीं करते हैं। वैज्ञानिक मत भी जैन सिद्धांत का समर्थन करता है।

केरल में समुद्र केवल अपने तट तक ही सीमित नहीं है अपितु वह उसके भूभाग तक घुस आया है और इस प्रकार उसने अनेक विशाल और सुंदर झीलों का निर्माण किया है। मलयालम में इन्हें कयल (Backwaters) कहा जाता है। समुद्र से सीधा सबध जोडने वाली झीलों को अजि (Azhi) कहते हैं। इस प्रकार की एक अजि का एक स्थान कोंडगल्लूर भी है जिसकी चर्चा यथास्थान की जाएगी। उसका सबध जैनधर्म से है। कोचीन से आलप्पी नामक सुंदर नगर को जोडने वाली झील ५२ मील लंबी है। इसमे मोटरबोट द्वारा यात्रा का आनंद ही निराला है। इसके पानी का रंग नीला है और इसी के किनारे शैवों का प्रसिद्ध तीर्थ वैक्कम है। प्राचीन काल मे तो व्यापारिक माल लाने–लेजाने के लिए इनका बहुत महत्व था। इन झीलो के किनारे नारियल आदि के पेड इन झीलों के तटों को आकर्षक स्वरूप प्रदान करते है।

सावन के महीने मे केरल की लगभग सभी जातियो के लोगो द्वारा हर्ष और उल्लास के साथ मनाया जाने वाला त्यौहार ओणम् विशेष महत्व रखता है। इस अवसर पर नौका–दौड (वल्लम–कील) दृश्य बडा मनोहारी होता है। ये नौकाएं ३० मीटर तक लबी होती है और इनका एक छोर सांप के फण की तरह ऊंचा उठा हुआ होता है। इन नावों को झूमते–गाते लगभग सौ लोग खेते दिखाई देते है। किनारो पर रंग–बिरंगे परिधानों मे हजारो दर्शक होते हैं और राजसी ढंग से सजे हाथी भी खडे किए जाते हे। इस उत्सव का सबध राजा महाबलि से जोडा जाता है। वे यहा के लोकप्रिय शासक थे। इस दिन वे यह देखने आते हैं कि उनकी प्रजा सुखी है या नही। आज की प्रजा भी उन्हे यह विश्वास दिलाती है कि वह सुखी और समृद्ध है। इस सबध मे अगला अध्याय देखिए। राजा महाबलि जैन थे ऐसा लगता है।

भारत के दक्षिण–पश्चिम छोर पर राजनीतिक नक्शो में एक अनपढ नोका जैसा दिखने वाला यह केरल राज्य है तो भारतभूमि काही एक भाग कितु उसके पश्चिम मे फैली सह्याद्रि पर्वतमाला ने उसे पूर्वी भाग से मानो विभाजित ही कर दिया है। यह पर्वतश्रेणी पश्चिमी घाट कहलाती है। ये पर्वत ३००० फीट से लेकर ८८४१ फीट तक ऊचे हैं और एक ठोस दीवार जैसा कार्य करते हैं। वे शुष्क या वृक्षहीन नही है, किंतु इमारती लकडी आदि के वनों मे सदा हरे–भरे रहते है। इनके अनेक शिखरों पर बने मंदिरो, गुफाओ आदि का बडा महत्व है। इनकी चर्चा यथास्थान की जाएगी।

यह पर्वतमाला अखड नहीं है। उसका सबसे बडा दर्रा पालघाट दर्रा या

पालक्काड दर्रा कहलाता है। यह लगभग २० मील चौडा है और तमिलनाडु के कोयम्बटूर जिले को केरल से रेल और सडक मार्ग द्वारा जोडता है। इस दर्रे के अतिरिक्त कर्नाटक के कुर्ग और मैसूर को जोडने वाले दर्रे तथा तिग्जेलवेल्ली को त्रिवेंद्रम अन्य दर्रे भी केरल में जैनधर्म की दृष्टि से महत्व रखते हैं विशेषकर केरल के वानाड जिले को मैसूर से जोडने वाला दर्रा।

पर्वतमाला के कारण केरल का एक नाम मलयनाटु या मलनाडु अर्थात् पर्वतों का देश भी रहा है। मलय या मला का अर्थ है पर्वत और नाडु यानी देश। ब्रिटिश सरकार और अरब लोग भी इसे मलाबार कहते थे। अरबी फारसी के शब्द बार से भी देश या प्राय.द्वीप का अर्थ लिया जाता है। केरल शब्द का प्रयोग संस्कृत–अपभ्रंश ग्रथों में भी पाया जाता है। दसवीं सदी के एक जैन महाकवि पुष्पदंत ने अपने अपभ्रंश महापुराण मे भी केरल शब्द का प्रयोग किया है। स्वतंत्रता–प्राप्ति से पहले यह प्रदेश, मलाबार, त्रावणकोर और कोचीन राज्यों में बंटा हुआ था। राज्यों के पुनर्गठन के अवसर पर इसके प्राचीन नाम केरल की पुन प्रतिष्ठा हुई।

केरल किसी समय चेरनाडु या चेर राजाओं का देश भी कहलाता था। ईसा की दूसरी सदी में चेर राजधानी वजि थी जो कि आधुनिक कोडंगल्लूर के रूप में पहिचानी जाती है। उस समय के युवराजपाद इलगो अडिगल ने तमिल में कोवलन और कण्णगी नामक जैन श्रावक और श्राविका की अमर कहानी एक महाकाव्य के रूप मे मिलती हे। इलगो जैन थे। उन्होने अपने राज्य को चेर कहा है। उनकी कृति से यह भी ज्ञात होता है कि किसी समय केरल तमिलगम (Tamilkam) या तमिलनाडु का एक भाग रहा है। जिसके तीन प्रमुख शासक चेर, चोल और पांड्य थे। आठवी–नौवी सदी के सुप्रसिद्ध जैन महाकवि जिनसेनाचार्य ने अपने विशालकाय सस्कृत महापुराण मे ऋषभदेव द्वारा विभाजित देशो मे चेर नाम ही गिनाया है। सम्राट अशोक के एक शिलालेख में भी चेरलपुत्र नाम आया है। यह लेख ईसा से लगभग २०० वर्ष प्राचीन है। इतिहासकारो ने इससे चेर शासक का अर्थ लिया है। इससे भी इसके कुछ भाग का चरनाडु नाम सिद्ध होता है। मलयालम भाषा के प्रसिद्ध कोशकार डॉ गुण्डर्ट इसे चेरम के कानडी उच्चारण से व्युत्पन्न मानते हैं। जो भी हो, केरल का एक नाम चेरम या चेरल या चेरनाडु था और वह जैनधर्म से संबंधित था।

यह भी एक मान्यता है कि केरल नाम केर (Coconut) या नारियल के कारण व्यवहार मे आया अर्थात् वह प्रदेश जहा नारियल की बहुतायत हो। इसमें तो जरा भी सदेह नही कि केरल की मुख्य उपज नारियल ही मानी जा सकती है। वहां मानों इसके जंगल ही है। शायद ही कोई ऐसा घर मिलेगा जिसके

आसपास नारियल के पेड न लगे हों। नारियल के पेड को केरलवासी कल्पवृक्ष भी कहते हैं। बच्चों को इस वृक्ष के दो नाम बताए जाते हैं– कल्पवृक्ष और तेड ड। किंतु कुछ शुद्धिवादी लोग सांस्कृतिक महत्त्व के इस शब्द को कोश में स्थान ही नहीं देते हैं। इस कल्पवृक्ष का हर भाग काम में आता है, यह पूरे वर्ष फल देता है और लगभग सौ वर्ष की इसकी आयु होती है। इस शब्द को सुनकर उस समाज व्यवस्था का स्मरण हो आता है जब वैदिक धारा में भी आदर प्राप्त एवं जैनों के प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव से पहले की पूर्ति दस प्रकार के कल्पवृक्षों से हुआ करती थी। एक कल्पवृक्ष यदिउनहें वस्त्र प्रदान करता था, तो दूसरा औषधि, तो तीसरा खाद्य पदार्थ और चौथा प्रकाश इत्यादि। किसी को आश्चर्य हो सकता है कि वृक्ष प्रकाश कैसे दे सकता है तो उसका उत्तर यह है कि आज साधकों ने हिमालय में ऐसी जडी–बूटीं ढूंढ निकाली है जो रात्रि के समय रेडियम की तरह पर्याप्त प्रकाश देती है। इस बूटी की खोज और प्रकाश आदि के सबंध में विस्तृत विवेचन प्रसिद्ध ज्योतिषी डा श्रीमाली ने अपनी पुस्तक "तंत्र गोपनीय रहस्यमय सिद्धियां" के पृष्ठ ३७ से ४२ पर दिया है। अत कल्पवृक्ष संबंधी जैन मान्यता पर अविश्वास का कोई कारण नहीं जान पडता। जैन पुराणों में इन कल्पवृक्षो का विवेचन अनिवार्य रूप मे पाया जाता है। जब इनसे मनुष्यो की आवश्यकताओं की पूर्ति मे कमी हुई, तब प्रथम राजा ऋषभदेव ने प्रजा को गन्ने आदि की खेती करना सिखाया। ऋषभदेव का स्मरण केवल जैन ही नहीं करते हैं अपितु वैदिक धारा के महत्वपूर्ण चौदह पुराण उनका और उनके पुत्र भरत की चर्चा आदरपूर्वक करते हैं। उन्हीं के पुत्र भरत के नाम पर यह देश इन पुराणों के अनुसार भी भारत कहलाता है। ऋषभदेव को तो विष्णु और शिव का अवतार भी मान लिया गया है। वैसे शकुतला–पुत्र के नाम पर भारत जैसी गलत धारणाएं फैलाने वालों की इस देशमे कोई कमी नही है। प्रश्न उठ सकता है कि क्या कल्पवृक्ष केरल मे जैनमतम् के प्रसार की कोई सूचना देता है? भाषा वैज्ञानिक जानते हैं कि ऐसे शब्दो मे भी जो कि अब अलग–थलग पड गए हैं बहुत–सा इतिहास छिपा होता है। मलयालम भाषा में आजकल प्रचलित पळ्ळीक्कूडम् शब्द जिसका अर्थ स्कूल होता है, केरल में जैन प्रभाव की सूचना देता है। इस तथ्य को केरल के ही निष्पक्ष विद्वानो ने स्वीकार किया है। मलयालम भाषा और प्राकृत अध्याय मे इसकी चर्चा की गई है। समिति और सभा जैसे गिनती के शब्दों के आधार पर ही तो वैदिक युग में भी गणतंत्र की कल्पना कर ली गई है। पितृ, दुहितृ, मातृ जैसे शब्दों के उच्चारण–भेद के कारण ही यूरोप और भारत की भाषाएं आर्य–भाषा परिवार में आ गई हैं और भाषा विज्ञान नामक एक विज्ञान ही उद्भूत

हुआ है। इसलिए यह मानना अनुचित नहीं होगाकि जैन परंपरा में बहुचर्चित शब्द कल्पवृक्ष भी केरल में किसी समय जैनमतम् के लोकप्रिय होने का सकेत दे रहा है विशेष रूप से उस समय जब कि केरल तमिलगम् का एक भाग था। यहां यह उल्लेख करना भी उचित होगा कि नारियल आज भी जैन पूजा और विधि–विधान का एक अनिवार्य अग है। उसके बिना जैन मंदिर में पूजन की कल्पना नहीं की जा सकती। जैनो मे नारियल की एक प्रतीकात्मक व्याख्या भी की गई है। उसके बाहर जटाओं का जो घेरा है, वह सांसरिक जंजाल का प्रतीक है जो कि क्रोध, मान, माया, लोभ, हिसा आदि दुर्गुणो से भरा पडा है। उसको हटाने या प्रतीक रूप में नारियल को फोडने पर ही तो आत्मा अपने शुद्ध, निर्मल स्वभाव को प्राप्त कर सकता है। नारियल की श्वेत गरी इस शुद्ध आत्मा की प्रतीक है। इस फल के ऊपर आवरण मे तीन आंखे होनी है जो कि जैन मत के अनुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की प्रतीक है। ये तीनों ही तो मोक्ष पाने के मार्ग या उपाय हैं। सभवत. यही कारण है कि इस प्रतीकात्मक फल नारियल को संपूर्ण भारत में जैन पूजा, विधि–विधान में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। केरल मे सबरीमला की व्रतपूर्ण, अहिंसाव्रती यात्रा पर जाने वाले यात्री भी नारियल चढाते है और नारियल फोडकर प्रसाद ग्रहण करते हैं। अतएव केरल मे नारियल को कल्पवृक्ष कहा जाए तो इसमे आश्चर्य की कोई बात नही है। उसके विभिन्न भाग केरलवासियों को मुद्रा कमाकर देते ही हैं।

पर्यटन की दृष्टि मे भी केरल विशेष महत्त्व रखता है। कन्याकुमारी, कोल्लम समुद्रतट, पूरब कावेनिस आलप्पी, वायनाड के सुदर, सुगंधपूर्ण, हरे–भरे पर्वत, वहां पार्श्वनाथ का जेन दर्पण मंदिर और अन्य अनेक जिन मदिरन, चितराल गाव के पास की पहाडी पर चट्टानो मे खुदी हुई प्राचीन जिनेंद्र मूर्तियों ओर नागरकोविल का विशाल मंदिर जिसमे पार्श्वनाथ और महावीर उत्कीर्ण है विशेषकर जैन पर्यटको के लिए विशेष आकर्षण के स्थान है। केरल में आज भी जैनधर्म के अनुयायी हैं और जिनमदिर हैं। बहुसख्य जैन वायनाड जिलें मे और कालीकट, कोचीन जैसे बडे शहरो में निवास करते है।

केरल जैसे छोटे राज्य में नदियो की भी बहुतायत है। वहां इकतालीस नदियां पश्चिमी घाट से निकलकर अरबसागर में मिलती हैं जब कि तीन नदिया पूर्व की ओर बहती हुई कावेरी नदी मे विलीन हो जाती हैं। सबसे बडी नदी भारतपुजा है जो कि २३४ कि.मी. लंबी है। केरल के ही कासरगोड जिले में जो कि कर्नाटक को छूता है, एक नदी है जिसका नाम है चंद्रगिरि। यह १०४ कि.मी. लंबी है और कर्नाटक के पट्टी वनों से निकलती है। इसी नदी के किनारे

केरल की ही सीमा में एक पहाडी चंद्रगिरी नाम की भी है। इन दोनों का नाम जैन सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य की स्मृति में रखा गया है जोकि मुनि हो गए थे।

केरल की राजधानी त्रिवेंद्रम एक पहाडी पर बसी हुई है और मनोरम दृश्य प्रस्तुत करती है। कालीकट से वायनाड तक की यात्रा का आनंद ही निराला है। वैसे सारा केरल ही आकर्षक दृश्य प्रस्तुत करता है। उसके समुद्रतट, हरी–भरी पर्वत–श्रेणियां, उन पर काजू, नारियल कालीमीर्च, इलायची आदि के वृक्ष उसे एक अनोखी हरीतिमा प्रदान करते हैं। किसी पर्यटक ने ठीक ही लिखा है कि जिस ईश्वर के हाथों ने केरल की रचना की, उसके साथ ही हरे थे।

केरल में केवल प्रकृति ने ही विविधता की सृष्टि नहीं की है, अपितु वहां मानव वश की इतनी अधिक नस्ले पाई जाती है कि केरल को मानव वंशका एक संग्रहालय (thnolocical museusm) कहा जाता है। सबसे प्राचीन समझी जाने वाली नेग्रीटो नस्ल के लोग भी वहां है जो जंगलों में अपना आदिम जीवन व्यतीत कर रहे हैं। काडर, काणिक्कार, मलप्पंडारम, मुतुवर, उल्लाटन तथा ऊराळि आदि इसी प्रकार की जातिया हैं। नेग्रिटो लोगों के बाद आद्य–ऑस्ट्रोलाइड नसल के जन केरल में आए। इस प्रकार की जातियां हैं– इसलन, करिम्पालन, केरिच्चियन मलय रयन और मल वेटन आदि। उनके बाद भूमध्यसागरीय जातियो ने भारत सहित केरल में प्रवेश किया। दक्षिण भारत में य द्रविड कहलाते है। केरल के नायर, ईजवन और वेळ्ळाळ जाति के लोग इसी परिवार के हैं। इन जातियों के संबंध में योरपीय विद्वानों के अतिरिक्त श्री एल के अय्यर और ए के अय्यर नामक पिता–पुत्र ने बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया है। केरल के विभिन्न जातियों के संबंध में लगभग आठ हजार पृष्ठों की सामग्री का अध्ययन करते–करते प्रस्तुत लेखक को ऐसा लगा कि केरल की जातियों विशेषकर आदिवासी और अस्पृष्य करार दी गई जातियों में जैन चिन्ह या जैन स्मृतियां शेष हैं। संभवतः राजनीतिक या धार्मिक कष्टो के दिनो में वे पर्वतों और घने जंगलों में भाग गए। इसकी चर्चा एक अलग अध्याय मे की गई है। सबसे बाद में आर्यो अथवा ब्राह्मण सभ्यता का केरल में प्रवेश हुआ यानी ईसा से दो–तीन सौ वर्ष पूर्व। कुछ विद्वानों का मत है कि जैनों और बौद्धों का आगमन केरल या दक्षिण भारत में आर्यो से भी पहले हो चुका था।

केरल में जैनमतम् का इतिहास जानने के लिए प्राचीन औरआधुनिक केरल का सीमाओं का ज्ञान कर लेना आवश्यक है। आठवीं शताब्दी केरल तमिलगम् या तमिल देश का एक भाग था। उसकी भाषा भी तमिल थी– मलयालम उससे अलग नहीं हुई थी। तमिलगम् की सीमा इस प्रकार थी– उत्तर में तिरूपति पर्वत, दक्षिण में कन्याकुमारी और पूर्व तथा पश्चिम में समुद्र। आधुनिक केरल

के पूर्व में तमिलनाडु के नीलगिरि, कोयम्बतूर, मदुरै, रामनाथपुरम् और तिरूजेलवेली जिले है। पश्चिम में अरबसागर है जो लगभग ५५० कि मी लंबा है। उत्तर में कर्नाटक का दक्षिण कन्नड जिला तथा उत्तर पूर्व में कुडगु और मैसूर जिले हैं। दक्षिण में तमिलनाडु के कन्याकुमारी जिले का अंतिम स्थान परस्साला है जो कि कन्याकुमारी से ५६ कि मी है। इस पुस्तक में कन्याकुमारी को अन्य अनेक लेखको की भांति केरल का ही एक भाग मानकर विवरण लिखा गया है। यह विवरण जिलो के अनुसार दिया गया है। जो कि चौदह हैं। इनके नाम हैं– 1. तिरूअनन्तपुरम् या त्रिवेंद्रम् 2. कोल्लम् या Quilon 3. पत्तनंतिट्टा Pathanamthitha 4. इडुक्की Idukki 5 कोट्टायम् Kottayam 6 एर्णाकुलम् Ernakulam 7. त्रिश्शुर Trichur 8. आलप्पी Alleppy 9 मलप्पुरम् Malappuram 10. कोझिक्कोड Kozhikode 11 पालक्काड Palghat 12. वयनाड Wynad 13. कण्णूर Cannanore तथा 14 कासरगोड Dasargod. कुछ प्रचलित नाम इस प्रकार है एर्णाकुलम और कोचीन या कोच्ची एक ही शहर माने जाते हैं, कोझिक्कोड कालीकट का नाम है, पालक्काड पालघाट है, त्रिरशूर त्रिचूर ही है।

सामान्य तौर पर यह विश्वास किया जाता है कि केरल में जैन समाज नहीं होगा। कितु यह तथ्य नहीं है। इतना अवश्य है कि जनगणना संबधी आकडो में जैनो की सख्या बहुत ही कम होती हे। सन १६८१ की गणना में, केरल में जैनों की कुल आबादी ३५०० के लगभग आकलित की गई थी। इस संख्या को वास्तविक नहीं माना जा सकता। इस कथन के दो कारण हैं। पहला तो यह कि भारत के अन्य भागों की भांति केरल मे भी जैनधर्म के अनुयायियों को भी हिदू लिख लिया गया होगा इस बात की पूरी संभावना है। गणना करने वाले बहुत कम लोग यह जानते हैं कि जैनधर्म और हिदू धर्म (वास्तव में वैदिक धर्म) दो अलग–अलग धर्म हैं। दूसरा कारण यह है कि स्वय जैन लोग भी इस और जागरूक नहीं रहते कि वे वैदिक धर्म के अनुयायी नहीं हैं। यह बात भारत के अन्य भागों पर भी लागू होती है।

केरल में जैन धर्मावलंबियों की संख्या का कुछ अनुमान उन भौगोलिक क्षेत्रो पर विचार करके लगाया जा सकता है जिनमें आजकल जैन जन निवास करते है। इस राज्य के मध्य पूर्वी भाग में जैनियो का विस्तार सबसे अधिक है। वे इस प्रदेश में दूर–दूर तक गांवो, छोटे–बडे शहरों मे और अंदरूनी भागों में भी फैले हुए हैं। यह भाग अधिकतर पहाडी है। ये लोग खेती करते हैं। काफी, चाय, कालीमिर्च, इलायची आदि की खेती विशेष रूप से की जाती है नारियल और काजू भी प्रमुख उपज हैं। कुछ समतल भागों में चावल की भी खेती होती

केरल की ही सीमा में एक पहाडी चंद्रगिरी नाम की भी है। इन दोनों का नाम जैन सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य की स्मृति में रखा गया है जोकि मुनि हो गए थे।

केरल की राजधानी त्रिवेंद्रम एक पहाडी पर बसी हुई है और मनोरम दृश्य प्रस्तुत करती है। कालीकट से वायनाड तक की यात्रा का आनंद ही निराला है। वैसे सारा केरल ही आकर्षक दृश्य प्रस्तुत करता है। उसके समुद्रतट, हरी–भरी पर्वत–श्रेणियां, उन पर काजू, नारियल कालीमीर्च, इलायची आदि के वृक्ष उसे एक अनोखी हरीतिमा प्रदान करते हैं। किसी पर्यटक ने ठीक ही लिखा है कि जिस ईश्वर के हाथों ने केरल की रचना की, उसके साथ ही हरे थे।

केरल में केवल प्रकृति ने ही विविधता की सृष्टि नहीं की है, अपितु वहां मानव वश की इतनी अधिक नस्ले पाई जाती है कि केरल को मानव वंशका एक संग्रहालय (thnolocical museusm) कहा जाता है। सबसे प्राचीन समझी जाने वाली नेग्रीटो नस्ल के लोग भी वहां है जो जंगलों मे अपना आदिम जीवन व्यतीत कर रहे हैं। काडर, काणिक्कार, मलप्पडारम, मुतुवर, उल्लाटन तथा ऊराळि आदि इसी प्रकार की जातियां हैं। नेग्रिटो लोगों के बाद आद्य–ऑस्ट्रोलाइड नसल के जन केरल में आए। इस प्रकार की जातियां हैं– इसलन, करिम्पालन, केरिच्चियन मलय रयन और मल वेटन आदि। उनके बाद भूमध्यसागरीय जातियो ने भारत सहित केरल में प्रवेश किया। दक्षिण भारत में य द्रविड कहलाते है। केरल के नायर, ईजवन और वेळ्ळाळ जाति के लोग इसी परिवार के हैं। इन जातियो के संबंध में योरपीय विद्वानों के अतिरिक्त श्री एल के अय्यर और ए के अय्यर नामक पिता–पुत्र ने बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया है। केरल के विभिन्न जातियों के संबंध मे लगभग आठ हजार पृष्ठों की सामग्री का अध्ययन करते–करते प्रस्तुत लेखक को ऐसा लगा कि केरल की जातियों विशेषकर आदिवासी और अस्पृष्य करार दी गई जातियों में जैन चिन्ह या जैन स्मृतियां शेष हैं। संभवत राजनीतिक या धार्मिक कष्टों के दिनों में वे पर्वतों और घने जंगलों में भाग गए। इसकी चर्चा एक अलग अध्याय में की गई है। सबसे बाद में आर्यो अथवा ब्राह्मण सभ्यता का केरल में प्रवेश हुआ यानी ईसा से दो–तीन सौ वर्ष पूर्व। कुछ विद्वानों का मत है कि जैनो और बौद्धों का आगमन केरल या दक्षिण भारत में आर्यो से भी पहले हो चुका था।

केरल में जैनमतम् का इतिहास जानने के लिए प्राचीन औरआधुनिक केरल का सीमाओं का ज्ञान कर लेना आवश्यक है। आठवीं शताब्दी केरल तमिलगम् या तमिल देश का एक भाग था। उसकी भाषा भी तमिल थी– मलयालम उससे अलग नहीं हुई थी। तमिलगम् की सीमा इस प्रकार थी– उत्तर में तिरूपति पर्वत, दक्षिण में कन्याकुमारी और पूर्व तथा पश्चिम में समुद्र। आधुनिक केरल

के पूर्व में तमिलनाडु के नीलगिरि, कोयम्बतूर, मदुरै रामनाथपुरम् और तिरूजेलवेली जिले हैं। पश्चिम में अरबसागर है जो लगभग ५५० कि मी लंबा है। उत्तर में कर्नाटक का दक्षिण कन्नड जिला तथा उत्तर पूर्व में कुडगु और मैसूर जिले हैं। दक्षिण में तमिलनाडु के कन्याकुमारी जिले का अंतिम स्थान परस्साला है जो कि कन्याकुमारी से ५६ कि मी है। इस पुस्तक में कन्याकुमारी को अन्य अनेक लेखको की भांति केरल का ही एक भाग मानकर विवरण लिखा गया है। यह विवरण जिलों के अनुसार दिया गया है। जो कि चौदह हैं। इनके नाम है– 1. तिरूअनन्तपुरम् या त्रिवेंद्रम् 2. कोल्लम् या Quilon 3. पत्तनंतिट्टा Pathanamthitha 4. इडुक्की Idukki 5. कोट्टायम् Kottayam 6. एर्णाकुलम् Ernakulam 7. त्रिश्शुर Trichur 8. आलप्पी Alleppy 9 मलप्पुरम् Malappuram 10. कोझिक्कोड Kozhikode 11. पालक्काड Palghat 12. वयनाड Wynad 13. कण्णूर Cannanore तथा 14. कासरगोड Dasargod. कुछ प्रचलित नाम इस प्रकार है एर्णाकुलम और कोचीन या कोच्ची एक ही शहर माने जाते है, कोझिक्कोड कालीकट का नाम है, पालक्काड पालघाट है, त्रिरशूर त्रिचूर ही है।

सामान्य तौर पर यह विश्वास किया जाता है कि केरल में जैन समाज नहीं होगा। किंतु यह तथ्य नहीं है। इतना अवश्य है कि जनगणना सबंधी आंकडों में जैनो की संख्या बहुत ही कम होती हे। सन १९८१ की गणना में, केरल में जैनो की कुल आबादी ३५०० के लगभग आकलित की गई थी। इस सख्या को वास्तविक नहीं माना जा सकता। इस कथन के दो कारण हैं। पहला तो यह कि भारत के अन्य भागो की भांति केरल में भी जैनधर्म के अनुयायियों को भी हिदू लिख लिया गया होगा इस बात की पूरी संभावना है। गणना करने वाले बहुत कम लोग यह जानते है कि जैनधर्म और हिदू धर्म (वास्तव में वैदिक धर्म) दो अलग–अलग धर्म है। दूसरा कारण यह है कि स्वयं जैन लोग भी इस ओर जागरूक नहीं रहते कि वे वैदिक धर्म के अनुयायी नहीं हैं। यह बात भारत के अन्य भागों पर भी लागू होती है।

केरल में जैन धर्मावलंबियो की संख्या का कुछ अनुमान उन भौगोलिक क्षेत्रो पर विचार करके लगाया जा सकता है जिनमे आजकल जैन जन निवास करते है। इस राज्य के मध्य पूर्वी भाग में जैनियो का विस्तार सबसे अधिक है। वे इस प्रदेश में दूर–दूर तक गांवों, छोटे–बडे शहरों में और अंदरूनी भागों में भी फैले हुए हैं। यह भाग अधिकतर पहाडी है। ये लोग खेती करते हैं। काफी, चाय, कालीमिर्च, इलायची आदि की खेती विशेष रूप से की जाती है नारियल और काजू भी प्रमुख उपज हैं। कुछ समतल भागों में चावल की भी खेती होती है किंतु जैन जन इसमें कम ही संलग्न है। कुछ कृषक छोटे खेतों के मालिक

हैं तो कुछ बडे फार्मो के। कुछ खेतों के स्वामी जैन मंदिर भी हैं। यह क्षेत्र काफी विशाल है। इसमें निवास करने वाले जैन मुख्य रूप से दिगंबर जैन आम्नाय के हैं। इनके अनेक जैन मदिर और चैत्यालय हैं किंतु खेद की बात है कि इस भाग के जैनों ने जीर्ण–शीर्ण जैन मंदिरों को गिराकर उनके स्थान पर नए मंदिरो का निर्माण कर लिया है। इससे प्राचीनता संबंधी बहुत–सा साक्ष्य नष्ट हो गया है। ग्रामों आदि मे बंटी इस क्षेत्र की ही आबादी पर विचार किया जाए तो यह स्पष्ट भासित होगा कि केवल इसी क्षेत्र में ही जैनों की संख्या जनगणना के आंकडों से अधिक है। इस भूभाग का दर्पण मंदिर ,डपततवत जमउचसमद्ध तो केरल में इतना प्रसिद्ध है कि उसे पिछले तीस–पैंतीस वर्षो मे हजारो जैन–अजैन लोग कुछ ऊंची पहाडी पर होने पर भी देख चुके है। केरल का यह प्रदेश अपने नए नाम वायनाड के रूप में ही जाना जाता है। एक और क्षेत्र दिगम्बर जैन आम्नाय से मुख्य रूप से संबंधित है। वह है कण्णूर और कासरगोड हिलो के अतर्गत प्रदेश। इस भूभाग में जैनधर्म और जैन जनसंख्या को, जैन मंदिरों को सबसे अधिक हानि हिंदू धर्म के साथ ही साथ टीपू सुलतान ने पहुचाई। उसके अत्याचारो के कारण जैन जनता पर्वतों की ओर भाग गई। दूसरी क्षति पुर्तगालियों ने पहुंचाई। उन्होने गोआ में अनेक जैन मदिरो को नष्ट किया, कर्नाटक में गेरसोप्पा आदि के कलात्मक मंदिरो को तो क्षति पहुचाई ही, केरल मे भी जैन मंदिर नष्ट किए। फिर भी जैनधर्म जीवित रहा। इस प्रदेश में एक अत्यंत प्राचीन चतुर्मुख मौजूद है। इन अत्याचारों का परिणाम यह हुआ कि जैन आबादी विरल हो गई। कम संख्या में होने पर भी इस भूभाग ने गोविंद पे जैसे जैन राष्ट्र–कवि को जन्म दिया। गोमटेश धुदि के इस महाकवि ने केरल और कर्नाटक दोनों का मस्तक ऊंचा किया। केरल के इस भाग में जैनों की जनसंख्या बहुत कम है यह सच है।

जैनो का श्वेताबर समाज मुख्य रूप से केरल के शहरी क्षेत्र में निवास करता है। यह जैन समाज मूल रूप से गुजराती है। इसके पूर्वज लगभग पांच सौ वर्ष घोडो पर गुजरात से केरल व्यापार के लिए आने प्रारंभ हुए थे किंतु अप्रवासियो की भाति गुजरात से उनका नाता नही टूटा है। वह एक ही मुहल्ले या गुजराती स्ट्रीट में रहते हैं। इनके व्यवसाय के प्रमुख केंद्र केरल के बडे शहर हैं। एर्णाकुलम, कोच्ची, मट्टानचेरी, कोभिक्कोड, आलप्पी इस प्रकार के नगरो में मुख्य हैं। यहां के जैन नारियल, नारियल का तेल, काफी, कालीमिर्च, अदरक आदि का व्यापार मुख्य रूप से करते हैं। कुछ बडे उद्योग भी चलाते है जैसे नागजी पुरुषोत्तमजी जो कि साहू या डालमिया की भांति प्रसिद्ध हैं। टाइम्स ऑफ इंडिया की ही तरह विख्यात मलयालम`दैनिक मातृभूमि के स्वामी

भी जैन ही हैं। दिगम्बरों में कॉफी के प्रमुख उत्पादक के रूप में श्री शांतिवर्मा, श्री धर्मपाल और श्री सन्तकुमार जाने–पहचाने नाम हैं। केरल के श्वेतांबर समाज विशाल और सुंदर मंदिर भी हैं। आलप्पी में पच्चीस लाख की लागत से एक सुंदर देरासर का निर्माणकिया जा रहा है। यह समाज कल्लिल के गुहा मंदिर को तीर्थस्थान मानता है कि हालांकि वह अब नंपूतिरि के अधिकार में है। उपर्युक्त शहरों मे यद्यपि श्वेतांबरों की ही संख्या सबसे अधिक है फिर भी श्वेतांबर अपने उत्सवों आदि को दिगम्बरों के साथ सहयोग कर मनाते हैं। इस का एक उदाहरण प्रस्तुत लेखक को पर्युषण पर्व का दिया गया। ऐसा लगता है कि केरल के इन शहरो में श्वेतांबर और दिगम्बर का भेद मिट गया है वैसे अपवाद तो हर स्थान पर होते हैं। विशेषकर मंदिरों और अतिथिगृहों के कर्मचारियों के व्यवहार में भेदभाव की भावना का कहीं–कहीं अनुभव होता है। यह समाज वैष्णवों के उत्सवो में भी सहयोग करता है। अकेले कोझिक्कोड में ही १५० से अधिक श्वेतांबर परिवार निवास करते हैं। इसी प्रकार यदि अन्य शहरों के श्वेतांबरों की संख्या जोडी जाएं तो यह परिणाम सामने आएगा कि केरल में केवल श्वेतांबरों की संख्या ही जनगणना में जैनों की संख्या से अधिक होगी।

केरल के मलयालमभाषी और इस राज्य के मूल निवासी दिगम्बर जैनों और श्वेताम्बर जैनों की सख्या जनगणना के आंकडों से कम से कम दो गुनी तो अवश्य होगी ऐसा अनुमान सहज ही किया जा सकता है। यदि केरल के जैन भी अपने कुलनामो यथा वर्मा या वर्मन या शाह अथवा मेहताआदि के स्थान पर जैन शब्द का प्रयोग करें तो भी जनगणना के आंकडे वास्तविकता की झलक दे सकते हैं।

केरल में कुछ जातियां और जनजातियां ऐसी भी हैं जिनमें जैनत्व के संकेत पाए जाते हैं। इस प्रकार के वर्ग में सबसे प्रथम हम नायर जाति का उल्लेख कर सकते है। यह सामान्यत विश्वास किया जाता है कि यह जाति मूल रूप से नाग जाति थी जिसके उपास्य देव सर्प फणावली मंडित पार्श्वनाथ थे और उनकी शासन देवी पदमावती की भी उनमे बडी मान्यता थी। केरल में सामाजिक क्रांति के सूत्रधार चटटीम्प स्वामी ने यह मत व्यक्त किया है कि नायर जाति अहिंसा के सिद्धांत को मानने वाली थी, उसकी अपनी सुव्यवस्थित शासन व्यवस्था थी और वह वर्णव्यवस्था से अपरिचित थी। ऐसा लगता है कि यह जाति पार्श्वनाथ को तो भूल गई और नागपूजक हो गई। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि हिंदू मंदिरों के रूप में परिवर्तित अनेक जैन मंदिरों का प्रबंध नायर लोगों के हाथ में था। इसी प्रकार पद्‌मावती देवी भी भगवती कही जाने लगी और उनके मंदिर भगवती मंदिर कहलाने लगे। केरल में एक जनजाति ऐसी भी है जो अपने संस्कार जैनों से करवाती है। प्रस्तुत लेखक को अष्टसहत्री ब्राह्मण

जाति के एक सदस्य ने बताया कि उसकी जाति पहिले जैन थी और जिसके आठ हजार सदस्यों को किसी समय ब्राह्मण बनाया गया था। यह एक रोचक बात है कि दक्षिण भारत की जातियों संबंधी एक अत्यंत प्रामाणिक ग्रंथ में ब्राह्मण जाति के विभिन्न भेदों का उत्पत्ति आदि का विवरण तो उपलब्ध है किंतु अष्टसहस्त्री ब्राह्मणों की उत्पत्ति के संबंध में यह ग्रंथ मौन है। इस लेखक ने विभिन्न जातियो और जनजातियो की उत्पत्ति संबंधी ब्रिटिश कालीन विवरणों को पढ कर अनेक जातियों में जैनत्व के संकेत पाए हैं जिसका उल्लेख उसने अपनी पुस्तक 'केरल में जैनमतम्' में एक स्वतंत्र अध्याय में किया है। पुरातत्व की दृष्टि से देखें तो लघु क्षेत्रफल वाले केरल मे वर्तमान में भी लगभग पचास जैन पूरावशेष मिलते हैं ऐसा कुछ अध्ययनो से ज्ञात होता हे। यह तथ्य किसी समय केरल मे जैनो की बहुत बडी संख्या की ओर संकेत करता है।

— बी 1/324, जनकपुरी
नई दिल्ली-58

समता भाव

समता भाव रहना ही परम तप है। ज्ञानी जीव समता भाव में सुखसागर को पाते हैं, उसी में मगन हो जो हैं, उसी के शान्तरस का पान करते हैं, उसी के निर्मल जल से कर्म-मल छुडाते हैं। समता भाव एक अपूर्व चन्द्रमा है, जिसके देखने से सदा ही सुखशान्ति मिलती है। समता भाव परम उज्जवल वस्त्र है, जिसको पहिनने से आत्मा की परम शोभा होती है। समताभाव एक शीघ्रगामी जहाज है, जिस पर चढकर ज्ञानी भव सागर से पार हो जाते हैं। समता भाव रत्नत्रय की माला है, जिसको पहिनने से परमशांति मिलती है। समता भाव परमानन्दमयी अमृत का घर है, जिसमें भीतर से अमृतरस रहते हुए भी वह कभी कम नहीं होता है। जो समता भाव के स्वामी हैं वही परम तपस्वी हैं। वे शीघ्र स्वतंत्रता को पाकर परम सन्तोषी हो जाते हैं और तृष्णा के आताप से रहित हो जाते हैं।

— स्वतंत्रता सोपान,
(ब्र. शीतल प्रसाद जी)

चडोभ का ऐतिहासिक जिनालय व दान पत्र

☐ लेखक कुन्दन लाल जैन

चडोभ का शिलालेख पुरात्तव जगत का प्रसिद्ध जैन शिलालेख है इससे जहा कच्छपधाती (कछवाहे) शासकों का परिचय मिलता है वहां लाड बागड सघ के आचार्यो और भट्टारको का भी परिचय मिलता है। इनमें से विजय कीर्ति नामक भट्टारक ने यहां विशाल जिन चैत्यालय बनवाया था। जिसे महाराज विक्रमसिंह ने ग्रामदान तैलदान आदि दिये थे, इन सबका दिग्दर्शन इस शिलालेख से मलता है इस शिलालेख में इस ग्राम का नाम चडोम उत्कीर्णित है जो कालान्तर मे डोम कुण्ड कहलाया और अब दूबकुण्ड के नाम से प्रसिद्ध है। देखो शिलालेख का उन्नीस वा श्लोक। हुआ यह कि सर्वप्रथम सन् १८६६ मे यह शिलालेख श्री कप्तान श्री डब्ल्यू आर मैकविली को इसमदिर के ध्वसावशेषो मे प्राप्त हुआ था। अत उन्होंने Dov-Kund शीर्षक से रोमन लिपि मे इसका विवरण लिखा जो शिलालेख के "चडोम" से मिलता जुलता है, काल परिवर्तन के कारण लोगो की जिह्वा से 'च' उड गया और डोभ बाकी बच गया, जहा यह शिलालेख ध्वसावशेष मिले वह ग्राम अब भी डोभ नाम से प्रसिद्ध है। नागरी लिपि वालो ने डोभ और दोभ को दोम को दूभ–कुण्ड मे परिवर्तित कर दिया और अब यह दूब कुण्ड के नाम से ही प्रसिद्ध हो गया है। इसमे कुण्ड शब्द का सयोजन सभवत उसी रजकद्रह नामक सरोवर के लिए हुआ जिसे महाराज विक्रमसिह ने मन्दिर के लिए दान दिया था।

दूबकुण्ड मध्यप्रदेश के मुरैना जिले की श्योपुर तहसील का एक पिछडा हुआ छोटा सा आदिवासी ग्राम है, राजस्थान की सीमा से लगा हुआ है। दूब कुण्ड जाने के लिए गवालियर, झासी और शिवपुरी से बसे जाती है। ग्वालियर श्योपुर राजमार्ग पर सौ कि.मी पर एक रास्ता गोरस श्यामपुर को जाता है इस मार्ग पर दस कि.मी. बाद बॉई और एक रास्ता और निकलता है जिस पर करीब ३ कि मी. चलने पर डोमग्राम पहुचा जा सकता है। यहा हजारो जैन मूर्तिया अस्तव्यस्त दशा मे पडी है इनकी खोज खबर लेने वाला कोई नही है। ग्रामीण लोग इन्हे अपना देवता समझ पूजा करते है कुछ मुर्तियो को तो कुण्ड के किनारे अगल बगल मे चुन दिया गया है। कुछ लोग इस ग्राम को चदोभा, चडोभा, चमोडा, चभोडा आदि नामो से उल्लेख करते है। जो भ्रान्तिपूर्ण है। जैन समाज को इन मूर्ति के जीर्णोद्धार हेतु प्रयास करना

चाहिए। इतिहास और पुरातत्त्व की ऐसी बहुमूल्य संपदा यो ही अकारण नष्ट हो जावे। यहा की सारी पुरा सपदा मुरैना के सग्रहालय तथा ग्वालियर के गूजरी महल सग्रहालय मे व्यवस्थित है।

दूब कुण्ड आजकल एक छोटा सा उपेक्षित आदिवासी ग्राम है। पर अब से लगभग नौ सौ वर्ष पूर्व यह एक प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था। कच्छप घाती शासकों की यह राजधनी थी, यहा बडे बडे व्यापारी वणिक जैन श्रेष्ठी जन रहा करते थे, इन श्रेष्ठियों ने सामूहिक प्रयास से यहां एक विशाल जिनालय का निर्माण कराया था, जिनालय का क्षेत्रफल ७५० फुट लम्बा तथा ४०० फुट चौड़ा वर्गाकार था, इसमें एक विस्तृत शिलालेख संवत् ११४५ में उत्कीर्ण किया गया था। शिलालेख की भाषा विशुद्ध सस्कृत एव अलकारिक है। इसमे सुन्दर पैतीस श्लोक जिनकी अलकारिक छटा से मन मुग्ध हो जाता है।अत में गद्य भाग है जो दान पत्र सा प्रतीत होता है और सरल सस्कृत गद्य मे है। यह शिलालेख सन् १८६६ ई. मे कप्तान श्री डब्ल्यू.आर. मैकबिली को इस मंदिर के भग्नावशेषो में मिला था, होसकता है यह ग्वालियर (म्यूजियम की सम्पत्ति हो)।

इस शिलालेख को लाडबागड सघ के आचार्य शान्तिषेण के शिष्य विजयकीर्ति ने रचा था तथा श्री उदयराज ने लिखा था और "तल्हण" नामक शिल्पी ने भाद्रपद शुक्ला तृतीया संवत् ११४५ सोमवार के दिन इसे उत्कीर्ण किया था। इस समय कछवाहा शासक विक्रमसिह का शासन काल था। राजा विक्रम सिंह ने इस मदिर के लिए महाचक्र नामक ग्राम रजकद्रह नामक सरोवर तथा बावडी सहित वगीचादान मे दिया था। साथ ही एक गोणी = ३२ सेर उपज पर एक विशोपक (तत्कालीन सिक्को) करके रूप मे स्वीकृत किया था तथा चार गोणी गेहूँ बोया जाने वाला खेत दान मे दिया था और मदिर में प्रकाश आरती के लिए और साधुओ के मालिश मर्दनादि हेतु दो करघटिका (एक प्रकार का माप) तैल भी दान में देने की घोषणा की थी। उपर्युक्त आमदनीसे मदिर की जीर्णोद्धार और मरम्मत निर्माण आदि भी कराया जा सकता था। अब हम पूरे शिलालेख का श्लोकानुसार विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करते है।

पहले श्लोक मे भ. ऋषभदेव स्तुति है जिसका बहुत सा अश त्रुटित एवं खण्डित है। दूसरे में भ. शान्तिनाथ की अलकारिक भाषा मे वंदना की गई है। तीसरे में चन्द्र प्रभु भगवान की प्रार्थना की गई है। चौथे में महावीर स्वामी को प्रणाम किया गया है। पाचवे में गौतम गणधर को नमन किया गया है, छठे में पकजवासिनी श्रुतदेवता (सरस्वती) की वदना की गई है।

सातवे से उन्नीसवे श्लोक तक कच्छपघाती शासक श्री भीमसेन के पुत्र पाण्डु, राजा अर्जुन, विद्याधर, अभिमन्यु, राजा भोज, विजयपाल और विक्रम सिह आदि शासको के बल, वीर्य, शौर्य, पराक्रम, साहस, विक्रभ आदि मानवीय गुणो की प्रशसा अत्याधिक सौन्दर्यपूर्ण अलकारिक छटा वाली शब्दावली मे विस्तार से वर्णित है। अंतिम शासक विक्रमसिह का चदोभ (डोम कुण्ड = दूब कुण्ड) नामक नगर था।

बीसवे श्लोक मे इस नगर के महान् श्रेष्ठी श्री जासूक का उल्लेख है जो जायसवाल वशज थे वे सम्यगदृष्टि थे और चतुर्विध सघ को श्रद्धा पूर्वक चार प्रकार का दान दिया करते थे। इक्कीस श्लोक मे जासूक के पुत्र जयदेव का उल्लेख है जो जिनेन्द्र भगवान के चरणारविन्द मे भ्रमर तुल्य रहा करता था तथा अपने वैभव से तथा यशकीर्ति से सारी दिशाओ को धवलीकृत कर दिया करता था। बाईसवे श्लोक मे जयदेव की पत्नी यशोमती का उल्लेख है जो रूप, गुण, शील स्वभाव से सयुक्त थी। तेइसवे श्लोक मे इनके (जयदेव और यशोमती) दो पुत्र श्री ऋषि और श्री दाहड का उल्लेख है जो सूर्य चन्द्र की भाति दैदीप्यमान थे। चौबीसवे श्लोक मे राजा विक्रमसिह द्वारा इन दोनो (ऋषि और दाहड) को श्रेष्ठी पदवी से विभूषित किये जाने का उल्लेख है। पच्चीसवे श्लोक मे आचार्य देवसेन का उल्लेख है जो लडवागडगण रूपी पर्वत के लिएमणि मणिक्य स्वरूप थे। वे शुद्ध सम्यगदर्शन ज्ञान चरित्र रूपी अलकारो से विभूषित थे, बडे बडे आचार्य उनकी आज्ञा शिरोधार्य करते थे

छब्बीसवे श्लोक मे इनके शिष्य कुलभूषण का उल्लेख है जो रत्नत्रया लकार के धारक थे, विद्वानो मे अग्रणी थे तथा निर्बाण प्रमाण ध्वनि को प्रसारित करने वाले थे। सत्ताईसवे श्लोक मे इनके शिष्य दुर्लभ सेन का उल्लेख है जो रत्नत्रय से सुशोभित थे, सपूर्ण श्रुत के पारगामी थे और आत्म स्वरूप के ज्ञाता थे। अठाइसवे श्लोक मे इनके शिष्य शातिषेण का उल्लेख है जो शास्त्र रूपी सागर के पारगत थे जिन्होने राजा भोज की राजसभा मे शिरोरत्न प. अम्बरसेन के समक्ष अनेको प्रवादियो को अपने वाक–चातुर्य से पराजित किया था। २९ व ३० वे श्लोको मे इनके शिष्य विजय कीर्ति का उल्लेख है जिन्होने गुरु चरणो की कृपा से पुण्य प्राप्त कर रत्नत्रयात्मक शुद्ध बुद्धि प्राप्त की थी तथा इस प्रशस्ति को सूक्ति रत्नो से अलकृत किया था। इन्ही गुरु की कृपा से परमागम का सारभूत धर्मोपदेशात्मक विशिष्ट ज्ञान पाया था। और आयु और शरीर को नश्वर एव विनाशीक समझा। ३१ से ३४ वे श्लोक तक श्री दाहड, श्री कूकेक, श्री सर्पट, श्री देवधर, श्री महीचन्द्र, श्री हरदेव के मामा श्री लक्ष्मण और गोष्ठिक आदि जैन श्रावको का उल्लेख

है जिनके सामूहिक सहयोग से यह ऐतिहासिक विशाल जिन मन्दिर का निर्माण हुआ था। पैतीसवे श्लोक मे इस ऐतिहासिक जिनालय का सौन्दर्य पूर्ण छटा का अलकारीक भाषा में वर्णन किया है।

अत मे गद्य भाग दान पत्र के रूप मे उत्कीर्ण है। जिसमे राजा विक्रम सिह द्वारा घोषित विभिन्न दानो का विवरण है। सर्वप्रथम तो मन्दिर की पूजा अर्चा तथा भविष्य मे टूटफूट या जीर्णोद्धार हेतु महाचन्द्र नामक ग्राम दान मे दिया था।

जिसमे चार गोणी गेहू बोने लायक खेत भी था। गोणी एक द्रोण के बराबर होता था और एक द्रोण ३२ सेर बराबर होता था इस तरह २८ सेर गेहू जिसमे बोया जा सके ऐसा विशाल खेत था। साथ ही एक गोणी अनाज पर एक विशेपक (तत्कालीन सिक्का या मुद्रा) कर के रूप मे भी निश्चित किया था। साथ ही रजक द्रह नामक विशाल सरोवर मदिर के लगा दिया था जिससे खेतो की सिचाई हो तथा और अन्य कार्यो मे प्रयोग मे लाया जा सके। इसके अतिरिक्त पूर्व दिशा मे स्थित बगीचा और उसमे विद्यमान बावडी भी (नायिका) दान मे दी थी। मदिर मे आरती तथा रोशनी प्रकाशादि हेतु एव मुनिजनो एव साधु सघो के शरीर मर्दन मालिश आदिके लिए दो कर घटिका प्रमाण (एक प्रकारका माप) तैल भी दान मे दिया था(प्रदीप मुनिजन शरीर सभ्यजनार्थ का घटिका द्वय तैल दभवान्) इस उल्लेख से ज्ञात होता हे कि मुनि महाराजो मे तैल मालिश की प्रथा प्रचलित थी। जो आज के युग एक प्रश्न चिन्ह खडा कर देता है।

इस तरह उपर्युक्त सपूर्ण दान महाराज विक्रम सिह ने जब तक सूर्य चन्द्रमा रहे तब तक के लिए दिया तथा अनुरोध किया है कि भविष्य मे जो कोई शासक हो वह इस दान की रक्षा का पालन करता रहे। अतिम श्लोक मे लिखा है कि सगरादि बडे–बडे चक्रवर्ती राजा इस पृथ्वी पर शासन करते रहे और जिसने जितनी भूमि पाई उसने उतना ही उसका फल पाया अत इस वाक्य से अपन्न प्रयोजन सिद्ध करते हुए भावी शासक इस दान की रक्षा करते रहे।

इस प्रशस्ति को उदयराज ने लिखा तथा तिल्हण नामक शिल्पी ने उत्कीर्ण किया। सवत् ११४५ भाद्रपद शुक्ल तृतीया सोमवार सबको मगलमय हो।

श्रुति कुटीर
६८, विश्वास नगर
शाहदरा दिल्ली

चडोभ का जिन मन्दिर

ओ नमो वीतरागाय
आ.........द्रवि............ट.............ना...............द्यत्पादपीठ लुठन्
मदार स्रग मद गुजदलि मन्निष्ठ साराविणम।
तत्पाद.............वद्वच...........रमु............ता,
स...........वि..........वेद्वेगमिवाकरोत्स **ऋषभस्वामी** श्रियेस्तात्सताम्।। १।।
विभ्राणो गुण सहति हततम स्तापो निज ज्योतिषा,
युक्तात्मापि जगति सगज जय श्चक्रे सारागाणिय।
उन्माद्यन्मकरध्वजोर्जितजगज ग्रासोल्लसत्केसरी,
ससारोग्रगदच्छिदे स्तु स मम श्री सा **(शां) ति नाथो** जिन. ।। २।।
जाडय सस्वद खडित क्षयमपि क्षीणाखिलोपक्षय,
साक्षादीक्षितमक्षिभिर्दधदपि प्रौढकलक तथा।
चिन्हत्वाद्यदुपात माप्य सतत जात स्तथा नदकृच्
चन्द्र सर्व जनस्य पातु **विपदश्चन्द्रप्रभोर्हन्सनः**।।३।।
सो (शो) कानो कह सकुल रतितृण श्रेणि प्रणश्यद्भ्रम·
.........त्मा ध्वग पूगमुद्गतमहामिथ्यात्व बातध्वनि,
यो रागादि मृगोपघात कृत धी ध्यानाग्निना भस्मसाद्
भाव कर्मवनं निनाय जयतात्सोय जिन. **सन्मतिः** ।।४।।
प्रसाधितार्थ गुर्भव्य पकजाकर भास्कर.।
अतस्तमोपहो वोस्तु **गौतमो** मुनि सत्तमः। ।५।।
श्री मज्जिनाधिपति सद्वदनारविद,
मुद्गच्छदच्छतरवो (बो) ध समृद्धगन्धम्।
अध्यास्य याजगति पकज वासिनीति,
ख्याति जगामजयतु सु (श्रु) त देवता सा ।।६।।
आसीत्कच्छपघात वश तिलक स्त्रैलोक्य निर्यद्यश.,
पाडु श्री युवराज सूनुर सम **द्यदभीमसेनानुगः**।
श्रीमानर्जुन भूपतिः पतिरपामक्या य तुल्यता,
नो गाभीर्यगुणेन निर्जित जगद्धन्वी धनुर्विद्यया ।।७।।
श्री **विद्याधर**देवकार्य निरतः श्री **राज्यपाल** हठात,
कठास्थिच्छिदनेकबाण निनहै ईत्वा महत्याहवे।

डिडीरा बलि चन्द्रमण्उल मिलन्मुक्ता कलापोज्जवलै
स्त्रैलोक्य सकल यशोभिरचलै र्योजस्र मा पूरयत्   ।। ८।।
यस्य प्रस्थानकालोत्थित जलधिरवाकार वादित्र,
शब्दावेगान्निर्गच्छदद्रि प्रतिमगज घटा कोटि घटारवाश्च।
ससर्पन्त समतादहमहमिकया पूरयतो विरेमु,
र्नो रोदा रध्र भाग गिरि विवरगुरू घत्प्रतिध्वान मिश्रा.   ।। ६।।
दिक्चक्रा क्रम योग्य मार्गण गणाधाराननेकान् गुणान,
च्छिन्नाननिश दर्धाद्वधुकला सस्पर्द्धमान द्युतीन।
सुनुच्छिन्न धनुर्गुण विजयिनोप्याजो विजर्त्योर्जित,
जातो **स्मादभिमन्युरन्यनृपतीनाम** मन्यमानस्तृणम्   ।। १०।।
यस्सात्यदभुत वाहवाहन महाशरत्र प्रयोगादिषु,
प्रावीण्य प्रविकल्पित पृथुमति **श्री भोज** पृथ्वी भुजा।
च्छत्रा लोकन मात्र जातभयतो दृप्तारिभगप्रद,
स्यास्य स्यादगुण वर्णने त्रिभुवने को लब्ध वर्ण्ण प्रभु   ।। ११।।
तुरगखर खुराग्रोत्खात धात्री समुत्थ,
स्थगयदहिम रस्मे (श्मे) मंडल यत्प्रयाणे।
प्रचुरतर रजोन्याशेषतेजस्विते जो
हतिमचिरत एवा (श) सतीवानि वारम्   ।। १२।।
शरदमृत मयूख पे स्वदशु प्रकाश,
प्रसर दमितकीर्ति व्याप्त दिक्चक्रवाल ।
अजनि**विजयपाल** श्री मतोस्मान्महीश,
शमित सकल धात्री मडलक्लेश लेस (श)   ।। १३।।
भय यच्छत्रूणा त्रिदशतरूणीवीक्षितरणे,
क्रमेणाशेषाणा व्यतरदसदप्यात्मनि सदा।
सतोप्य शन्नादादवनिवलयस्याधिकमतो,
वु (बु) धानामाश्चर्य व्यतनुत नरेन्द्रो हृदिचय   ।। १४।।
तस्मादिक्रमकारि विक्रमभरप्रारभ निर्भेदित,
प्रोतुगाखिल वैरिवारणघटेद्यन्मास कुभस्थल ।
श्री **मान्विक्रमसिंह** भूपतिरभू दन्वर्थनामा सम,
सर्व्वासा (शा) प्रसरद्विभासुर यश स्फार स्फुरत्केसर   ।। १५।।
वा (बा) लस्यापि विलोक्य यस्य परिधाकार भुज दक्षिण,
क्षीणाशेष पराश्रय स्थिति धियावीरश्रिया सश्रितम्।
सर्वागेष्वगूहनाग्रह महकारा दहपूर्विका,
राज्य श्रीरकृताधिगस्य विमुखी सर्व्वान्यपु वर्ग्गत   ।। १६।
अत्यतोदृप्त विद्विट्तिमिरभरभिदिच्छादितानीति,

तारा चक्रेविश्वक् प्रकाशं सकल जगदमदावकाशं दधाने।
निःपर्याय दिगास्य प्रसरदुक राक्रांतधात्री धरेन्द्रे,
यस्मिन् राजां सु (शु) मालिन्य हह सति वृथैवैषको न्योंशुमाली।। **१७**।।
यद्दिग्जये वरतुरंग खुराग्र सगक्षुण्णवनी वलयजन्य रजोभिसर्प्पत्।
विद्वेषिणां पुरवरेषु तिरोहितान्य वस्तूकरं प्रलयकाल मिवादिदेश।। **१८**।।
तस्य क्षितीश्वरवरस्य पुर समस्ति विस्तीर्णशोभमभितोऽपि **चडोभ** संज्ञम्।
प्राप्तेप्सितक्रय समग्र दिगागतागि व्यवर्ण्यमान विपणिव्यवहारसारम्।। **१९**।।
आसीज्जायसपूर्वि निर्गत वणिग्वशाव (ब) रामीशुभान्,
जासूकः प्रकटाक्षतार्थ निकरः श्रेष्ठीप्रभाधिष्ठितः।
सम्यग्दृष्टि रभीष्ट जैनचरण द्वदार्चने योददौ,
पात्रौघाय चतुर्व्विध त्रिविबुधो दान युतः श्रद्धया ।। २०।।
श्रीमज्जिनेश्वर पदाबुरुह द्विरेफो,
विस्फार कीर्तिधवलीकृत दिग्विभागः।
पुत्रोस्य वैभवपद ***जयदेवनामः***।
सीमायमानचरितो जनिसज्जनानाम् ।। २१।।
रूपेणशीलेन कुलेन सर्व्व स्त्रीणा गुणैरप्यपरैः शिरस्सु।
पद दधानस्य बभूव भार्या **यशोमतीति** प्रथिता पृथिव्याम् ।। २२।
तस्यामजीजनदसा**वृषि दाह**दाख्यौ पुत्रौ पवित्रवसुराजित चारूमूर्ती
प्राच्यामिवार्कशशिनौ समयः समस्तसपत्प्रसाधक जन व्यवहार हेतू।।२३।
प्रोन्माद्यत्सकलारि कुजर शिरो निर्दारणोद्यद्यशो,
मुक्ताभूषितभूरभूरपि भियान्नोन्मार्गगामीच यः।
सोदा**द्विक्रमसिंह** भूपति रति प्रीतो यकाभ्या युग,
श्रेष्ठः श्रेष्ठि पद पुरेत्र परम प्राकार सौधपणे ।। २४।।
आसीद्विशुद्धतरबोध चरित्र दृष्टि निःशेष सूरिनतमस्तक धारिताज्ञः।
श्री **लाटवागट** गणोन्नतरोहणाद्रि मणिक्य भूत चरितो गुरु देवसेनः
।। २५।।

सिद्धान्तो द्विविधोप्यवाधितधिया येन प्रमाण ध्वनिः,
ग्रन्थेषु प्रभवः श्रियामवगतो हस्तस्थ मुक्तोपम.।
जातः श्री **कुलभूषणोखिल** वियद्वासोगणग्रामणी.,
सम्यग्दर्शनबोध चरणालकारधारी ततः ।। २६।।
रत्नत्रयाभरणधारणजात शोभस्तस्मादजायत स **दुर्ल्लभसेन** सूरिः।
सर्व्व श्रुतं समधिगम्य स हैव सम्यगात्मस्वरूप निरतो भवदिद्धधीर्यः
।। २७।।

आस्थानाधिपतौ बुधादिविगुणे श्री **भोज**देवेनृपे,
सभ्ये**ष्वंबरसेन** पडित शिरोरत्नादिषूद्यन्मदान्।

योनेकान् शतशो व्यजेष्ट पटुताभीष्टोद्यमोवादिनः,
शास्त्रांभोनिधि पारगोभवदतः श्री **शांतिषेणो** गुरुः ।। २८।।
गुरु चरण सरोजाराधनावाप्त पुण्य प्रभवदमल बुद्धिः शुद्धरत्नत्रयोस्मात्।
अजनि विजयकीर्तिः सूक्तरत्नावकीर्णां जलधिभुवभिवैतां यःप्रशस्ति व्यधत्तः ।। २६।
तस्मादवाप्यपरमागम सारभूतं धर्मोपदेशमधिकाधिकत प्रबोधाः।
लक्ष्याश्च बधु सुहृदांच समागमस्य मत्वायुषश्च वपुषश्च विनश्वरत्वं ।। ३०।।
प्रारब्धा धर्मकांतार विदाहः साधु **दाहडः**।
सद्विवेकश्च कूकेकः **सूर्पटः** सुकृते पटुः ।। ३१।।
तथा **देवधरः** शुद्धः धर्मकर्मधुरंधरः।
चन्द्रालिखित नाकश्च **महिचन्द्रः** शुभार्जनात् ।। ३२।।
गुणिनः क्षणानाशि श्री कलादान विचक्षणा.।
अन्येपिश्रावकाः केचिदकृतेधनपावकाः ।। ३३।
किंच **लक्ष्मण**सज्ञोभूद् **हरदेव**स मातुलः।
गोष्ठिको जिनभक्तश्च सर्वशास्त्र विचक्षण. ।। ३४।।
शृग्भग्रोलिलखिताबर वरसुधा सान्द्र द्रवापाडुर,
सार्थं श्री जिन मन्दिर त्रिज्गदानदप्रद। सुन्दरं।
सभूयेदमकारयन्गुरुशिरः सचारिकेत्वबर,
प्रातेनोच्छलतेव वायुविहते धीमादिशत्पश्चताम् ।। ३५।।

गद्य : अथैतस्य जिनेश्वर मंदिरस्य निष्पादन पूजन सस्काराय कालान्तर स्फुटित त्रुटित प्रतीकारार्थं च महाराजाधिराज श्री **विक्रमसिंहः** स्व पुण्यराशेर प्रतिहतप्रसर परमोपचय चेतसि निधाय गोणी प्रति विशोपक गोधूम गोणी चतुष्टय वापयोग्य क्षेत्र च **महाचक्र** ग्रामभूमौ **रजक**द्रह पूर्व दिग्भाग वाटिका वापी समन्विता। प्रदीप मुनिजन शरीर सम्यंजनार्थं कर घटिका द्वय च दत्तवान्। तच्चाद्रार्कं महाराजाधिराज श्री **विक्रमसिंहो**परोधेन।

बहुभिर्वसुधाभूमि मुक्ता राजभिः सगरादिभिः।

यस्य यस्य यदा भूमि स्तस्य तस्य तदा फलम्।। इति स्मृतिवचना न्निजमपि श्रेयः प्रयोजन। मन्यभानैः सकलैरपि भाविमिर्भूमिपालैः प्रति पालनीयमिति।" लिलेखो**दयराजो** यां प्रशस्तिं शुद्धधीरिमाम्।।

उत्कीर्ण्णवान् शिलाकूट स्तील्हण स्तांसदक्षराम्।।"

संवत् ११४५ भाद्रपद सुदि ३ सोमदिने, मंगल महाश्रीः।।

6608

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र–प्रवर्तक : आचार्य जुगल किशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष-48 किरण-4 अक्टूबर-दिसम्बर 95

1. सम्बोधन
2. पंच परमेष्ठी-स्वरूप
3. श्रावक का स्वरूप
(आचार्या जैनमती जैन)
4. आगमों के प्रति विसंगतियां
(पद्मचन्द्र शास्त्री)
5. जैन परम्परा में परशुराम
(श्री राजमल जैन)
6. प्राकृत वैद्यक
(श्री कुन्दनलाल जैन)
7. सांख्य योग दर्शन में प्रतिपादित
अहिंसा पर जैनधर्म का प्रभाव
(डॉ. जयकुमार जैन)

वीर सेवा मंदिर, 21 दरियागंज नई दिल्ली-110002

Regd. with the Ragistrar of Newspaper at R.No. 10591/62

'अनेकान्त'
आजीवन सदस्यता शुल्क : 101.00 रू.
वार्षिक मूल्य : 6 रु., इस अक का मूल्य : 1 रुपया 50 पैसे
यह अंक स्वाध्याय शालाओ एव मंदिरो की मांग पर निःशुल्क

विद्वान लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

संपादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, संपादक श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक : श्री भारत भूषण जैन एडवोकेट, वीर सेवा मंदिर, नई दिल्ली-2
मुद्रक : मास्टर प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

अनेकान्त

वर्ष ४८	वीर सेवा मंदिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२	अक्टूबर-दिसम्बर
किरण-४	वि.नि.सं. २५२२ वि.सं. २०५२	१९९५

सम्बोधन

कहा परदेसी को पतियारो।
मनमाने तब चलै पंथ को,
साँझिगिनै न सकारो।
सबै कुटुम्ब छाँडि इतही,
पुनि त्यागि चलै तन प्यारो।।
दूर दिसावर चलत आप ही,
कोउ न राखन हारो।
कोऊ प्रीति करो किन कोटिक,
अन्त होइगो न्यारो।।
धन सौं रुचि धरम को भूलत,
झूलत मोह मँझारो।
इहिविधि काल अनंत गमायो,
पायो नहिं भव पारो।।
साँचे सुख सो विमुख होत है,
भ्रम मदिरा मतवारो।
चेतहु चेत सुनहु रे 'भैया'
आपहि आप सँभारो।।
कहा परदेसी को पतियारो।।

पंचपरमेष्ठी-स्वरूप

घणघाइ कम्मरहिया केवलणाणाइपरमगुण सहिया।
चौंतिस अदिसयजुत्ता, अरिहंता एरिसा होंति।।
णट्टट्ठ कम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा।
लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा जे एरिसा होंति।।
पंचाचार समग्गा पंचिंदियदंतिदप्पणिद्दलणा।
धीरा गुणगंभीरा आयरिया एरिसा होंति।।
रयणत्तय संजुत्ता जिण कहिय पयत्थदेसया सूरा।
णिक्कंखभावसहिया उबज्झाया एरिसा होंति।।
वावारविप्पमुक्का चउव्विह राहणा सया रत्ता।
णिग्गंथा णिम्मोहा साहू एदेरिसा होंति।।

अर्थ

1 जो सपूर्ण घातिया कर्मो से रहित है, केवलज्ञानादि परमगुण के धारी हैं, चौंतीस अतिशय विराजमान हैं, सो ही अरहत कहलाते है।

2 जिन्होने अष्टकर्मो के बन्धनो का नाश कर दिया है, जो आठ महागुण करके सहित परम अर्थात् बडे है, लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, नित्य हैं वे सिद्ध है।

3 जो दर्शन-ज्ञान-चरित्र-तप और वीर्य रूप आचारो से पूर्ण है, पचेन्द्रियरूपी हाथियों के मद को दलन करने वाले हैं, धीर है और गुणो मे गम्भीर हैं वे आचार्य होते है।

4. जो रत्नत्रय से युक्त हैं, जिनेन्द्र प्रणीत पदार्थो के उपदेशक है, जो इच्छारहित ऐसे भाव सहित है ऐसे उपाध्याय कहे जाते हैं।

5 जो सर्व व्यापार से रहित है, चार प्रकार आराधना मे सदा लवलीन हैं जो निर्ग्रन्थ और मोह रहित है वे साधु होते हैं।

– **'नियमसार' से**

श्रावक का स्वरूप : प्रदूषण विहीन समाज की संरचना

ले आचार्या श्रीमती जैनमती जैन एम ए

'श्रावक'शब्द 'श्रमण' शब्द की तरह जैन सस्कृति और जैनागमो की मौलिक निधि है। 'मनुस्मृति'[1] आदि मे 'गृहस्थ' शब्द जिस अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है उसी अर्थ मे जैन आचार्यों ने श्रावक शब्द का प्रयोग किया है। श्रावक के क्रमिक विकास का अवसान परमात्मा की प्राप्ति मे होता है। श्रावक समाज की इकाई है। अतः स्वस्थ समाज का निर्माण उसके आचरण पर निर्भर है।

जैन धर्म जैन ओर जैनधर्म के सम्बन्ध मे भी प्रसग वशात् चिन्तन आवश्यक है। 'जैन' शब्द उस समुदाय के लिए प्रयुक्त होता है जो 'जिन' को अपना पूज्य मानते है। दूसरे शब्दो मे 'जिनदेव' की उपासना करने वाले जैन कहलाते है।[2] कहा भी है

"जिनस्य सम्बन्धीदं जिनेन प्रोक्तं वा जैनम्[3]।"

उपर्युक्त कथन का निहितार्थ यह है कि जैन किसी जाति या सम्प्रदाय विशेष के व्यक्ति नही होते है, वल्कि वे सभी प्राणी जैन कहलाते है जो 'जिन को अपना अभीष्ट मानकर उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुकरण करते है।

अब प्रश्न होता है कि 'जिन' किसे कहते है? 'जिन' शब्द 'जय' या जीतने' अर्थ वाली धातु से बना है। हलायुध्र कोश मे बतलाया गया है कि 'जि' धातु मे इण विअजीति' इस सूत्र से नक प्रत्यय जोडने पर जिन शब्द बना है। अत जयतीति जिन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जीतने वाला जिन कहलाता है। लेकिन भौतिक पदार्थो को जीतने वाला या लडाई मे अपने शत्रुओ को जीतने वालाजिन नही कहलाता है तब किसे जीतने वाला जिन कहलाता है? इस सबध में सर्व प्रथम आचार्य कुन्द-कुन्द ने विचार किया हैं वे कहते हैं 'णमो जिणाण जिद भवाण'[4] अर्थात भव को जीतने वाला जिन कहलाता है। तात्पर्य यह है कि जिन कारणो से संसार मे आवागमन होता है, उन कारणों को जीतना जिन है। ज्ञानावरणादि घातिया कर्मो के वशीभूत होकर आत्मा को ससाररूपी जगल, मे भटकना पडता है। अत टीकाकारो ने क्रोध, मान, माया, लोभ रुपी कषायों और कर्म रुपी शत्रुओं को जीतने वाले को जिन[5] कहा है। अत राग-द्वेष से रहित और अनन्तज्ञानादि चतुष्टय से युक्त आप्त जिनदेव या सर्वज्ञ का उपदेश जैन धर्म कहलाता है। गम्भीरता

से देखा जाय तो कहा जा सकता है कि शुद्ध आचार और विचार के द्वारा जीवन को यथार्थ विकास के लिए गति प्रदान करने वाला ओर शुद्धाचरण का पालन करने वाले प्राणियो को निम्न स्थान से उच्च स्थान पर पहुँचाने वाला धर्म जैन धर्म कहलाता है। जैन धर्म में आचार-विचार की अहिंसा प्रधान है। कहा भी है **स्याद्वादो विद्यते यत्र पक्षपातो न विद्यते। अहिंसायाः प्रधानत्त्व जैन धर्म स उच्यते।।**

अत अहिसावाद अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, अपरिग्रहवाद एव अनीश्वरवाद जैन धर्म के स्तम्भ है।

(ब) मानव का चरम लक्ष्य सुख की प्राप्ति है : भारतीय मनीषियो ने बतलाया है कि उत्तम गुणो स युक्त मनुष्य-जन्म ससार का सार है[6] मनुष्य सुखी होना चाहता है। वह जीवन का अभ्युदय चाहता है। वह ऐसे सुख को प्राप्त करना चाहता है, जो अबाधित और अनन्त हो। दूसरे शब्दों में स्वर्ग और मोक्ष के सुख को प्राप्त करना मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। इस सुख की प्राप्ति धर्म के द्वारा ही सम्भव है।[7] अत धर्म मानव जीवन का परम सार है।[8] सुख की प्राप्ति भारतीय चिन्तको ने नैतिक आचारण स मानी हे। यही कारण हे कि जैन-आचार्यो ने "चारित्त खलु धम्मो" कहकर चरित्र को मोक्ष का साक्षात कारण माना है[9] अस्तु, प्रवृत्ति और निवृत्ति रुप धर्म गृहस्थ ओर मुनि धर्म की अपेक्षा से दो प्रकार का है। कहा भी है [11]

"स धर्मो हि द्विधा प्रोक्तः सर्वज्ञेन जिनागमे।
एकश्च श्रावकाचारो द्वितीयो मुनिगोचरः।।"

अन्यत्र भी कहा है

"दो चेव जिणवरेहिं, जाइजरामरण विप्पमुक्केहिं।
लोगम्मि पहा भणिया, सुस्समण सुसावगो वा वि।।"

इनमे मुनिधर्म श्रेष्ट है इस लिए आचार्य अमृत चन्द सूरि ने कहा है कि जो मुनिधर्म का पालन करने मे असमर्थ है और प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदित होने से विषयो को नही छोड सकता है उसे श्रावक धर्म का उपदेश देना चाहिए। ऐसा नही करने से वक्ता दंड का भागी होता है।[12]

(स) श्रावक धर्म का स्रोत यहाँ जिज्ञासा होती है कि वर्तमान मे श्रावक धर्म निरुपक जो साहित्य उपलब्ध है उसका स्रोत क्या है? यहाँ उल्लेखनीय है कि जैन धर्म के उपदेशक या तीर्थकर आगमो के भाव कर्ता और गणधर द्रव्यकर्ता होते है। सर्व प्रथम श्रावक धर्म का उपदेश आदि तीर्थकर ऋषभदेव ने दिया था और उनके गणधर वृषभसेन ने उनके इस उपदेश को उपासकाध्ययन नामक सातवे अग मे निरूपण किया था। यह विशाल अग था। कहा गया है कि इस अग के समस्त पदो की सख्या 11 लाख सात हजार थी और एक-एक पद मे 16 अरब 34 करोड 83 लाख 6 हजार 8 सौ वर्ण थे। आदिनाथ भगंवान का अनुकरण अजितनाथ आदि तीर्थकरों ने किया। इस युग के अंतिम तीर्थकर भगवान महावीर ने जिस श्रावक धर्म का निरुपण किया था, तदनुसार गौतम गणधर ने

'उपासकाध्ययन' नामक अग मे उसे गूथा था। इसके पश्चात् सुधर्मा स्वामी आदि केवलियो विष्णु आदि श्रुत केवलियो ने उक्त अगानुसार श्रावक धर्म का निरुपण किया । वी नि सं 683 के पश्चात् क्रमश· काल के प्रभाव से अग पूर्वो के अंश के ज्ञाता आचार्य धरसेन से ज्ञान प्राप्त कर पुष्पदन्त-भूतबली ने षटखण्डागम की रचना की और इसके पश्चात आचार्य कुन्द-कुन्द ने प्राकृत भाषा मे अपने चरित्र पाहुड मे सर्व प्रथम सक्षिप्त श्रावक धर्म का उल्लेख किया है। इसके पश्चात् आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावका चार मे स्वामी कार्तिकेय ने कार्तिकेयानु प्रेक्षा में आचार्य रविषेण ने पद्म चरित, आचार्य जिनसेन (द्वितीय) ने महापुराण, अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थ सिद्धयुपाय सोमदेव के उपासकाध्ययन और हरिभद्राचार्य कृत सावयपन्नत्ति मे श्रावक धर्म उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त अमितगति श्रावकाचार-वसुनन्दि श्रावकाचार, सावयधम्म दोहा, सागारधर्ममृत धर्मसंग्रह श्रावकाचार, प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, गुणभूषण श्रावकाचार, धर्मोपदेश पीयूषवर्ष श्रावकाचार, लाटी संहिता पचविशतिकागत श्रावकाचार, भावसग्रह अर्धमागधी प्राकृत भाषा मे रचित उपासकाध्ययन आदि श्रावक धर्म निरूपक विशाल साहित्य का सृजन प्राकृत सस्कृत अपभ्रश और हिन्दी भाषाओं में हुआ है। इनके आलोडन से ज्ञात होता है कि जैसे-जैसे श्रावक अपने धर्म के प्रति शिथिल होते गये वैसे-वैसे ही आचार्यो को श्रावकधर्म में संशोधन और परिवर्द्धन करते हुए तत सम्बन्धी साहित्य का सृजन करना पडा। वीसवी शताब्दी के आचार्य ज्ञान सागर आचार्य कुन्थुसागर पं कैलाशचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री प डा पन्नालाल साहित्या चार्य डा मोहन लाल मेहता पं हीरा लाल न्यायतीर्थ आदि ने श्रावक धर्म का विश्लेषण एव विवेचन अपनी-अपनी कृतियो मे किया है।

(द) श्रावक का अर्थ 'श्रावक' शब्द उतना ही प्राचीन है जितना जैन धर्म है। प्राकृत भाषा मे इसे 'सावग्ग' भी कहते है। सरावगी और सराक श्रावक के ही रूप है। बिहार, वगाल, उडीसा आदि मे सराक नामक जाति का नामकरण श्रावक धर्म का पालन करने से हुआ प्रतीत होता है। आप्टे ने श्रि + ण्वुल' प्रत्यय जोडकर श्रावक शब्द की निष्पत्ति मानी है। लेकिन 'श्रावक' शब्द 'श्रु श्रमण' धातु से बना है। पाणिनी के 'श्रव श्रचे[13] सूत्र से 'श्रव' के स्थान पर 'श्रृ' होने और वर्तमान काल के एक वचन का प्रत्यय लगाने पर श्रृणोति रुप बनता है। अत सुनने वाले को श्रावक कहते है। लेकिन यह श्रावक का साधारण अर्थ है। जैनागमो मे जिनेन्द्र के उपदिष्ट तत्त्वो के सुनने वालो को श्रावक कहा गया है।[14]

आचार्य हरिभद्र[15] ने कहा भी है

संमत्तदंसणाई पइदियह जइ जणा सुणेई य।
सामायरिं परमं जो खलु तं सावगं विन्ती।।

अर्थात सम्यग्दर्शन आदि प्राप्त कर जो प्रतिदिन मुनियों से उत्कृष्ट सामाचारी (सज्जनों द्वारा आचारित) साधु एवं श्रावक से सम्बद्ध क्रिया कलाप सुनता है, उसे

श्रावक कहते है।

इसी प्रकार प आशाधर ने सागार धर्मामृत की स्वोपज्ञ टीकाओ मे कहा है कि गुरु आदि से जो धर्म सुनता है वह श्रावक कहलाता है।[16]

(क) **श्रावक' में आगत तीनों अक्षरों की व्याख्या की अपेक्षा** : श्रावक शब्द का गठन 'श्रा' 'व' 'क' के मेल से हुआ है इस दृष्टि से अभिधान राजेन्द्र कोश मे श्रावक की निरुक्ति करते हुए कहा गया है कि श्रावक में 'श्र' शब्द तत्वार्थ श्रद्वान का सूचक हे। 'व' शब्द सात धर्मक्षेत्रो में धन रुपी बीज बोंने की प्रेरणा करने का सकेत करता है। 'क' शब्दक्लिष्ट या महापापो को नष्ट करने का सकेत करता है। कर्मधारय समास किए जाने पर 'श्रावक' निष्पन्न होता है।[17] अत गुरुओ से परलोक हितकारी सम्यक्त्व सुनने वाला श्रावक कहलाता है।

तात्पर्य यह है कि श्रावक सम्यग्दर्शन को धारण कर जैन शासन को सुनता है, दान देता है, सुकृत एव पुण्य के कार्य करता हुआ सयम का आचरण करता है।

(य) **श्रावक वाची शब्द** · जैन वाडमय में श्रावक को सागार अगारी, गृहस्थ, अणुव्रती, उपासक देशसयमी, विवेकवान, संयतासंयत, पंचमगुण स्थानवर्ती विरक्तिचित्त वाला आदि कहते है। अत इन शब्दों के अर्थ भी विचारणीय हैं।

(i) **सागार** : सागार शब्द स + आगार से बना है। अत इन शब्दो का आगार सहित होता हे उसे सागार कहते है। पूज्यपादाचार्य सवार्थसद्धि[18] मे कहते है कि आश्रय चाहने वाले जिसे स्वीकार करते है, उसे आगार (घर) कहते है। जिसके घर है उसे आगारी कहा है। चरित्र पाहुड[19] मे आचार्य कुन्दकुन्द ने परिग्रह युक्त को सागार कहा है। पं आशाधर ने सागार धर्ममृत की स्वोपज्ञ टीका[20] में परिग्रह सहित घर मे रहने वाले को सागार कहा है।

उपर्युक्त परिभाषाओ से फलित होता है कि जो परिग्रह से युक्त है वह सागार है। भले ही वह जगल को ही अपना आश्रय समझता हो। सपरिग्रही जहा रहेगा वही उसका घर होगा।

(ii) **उपासक** : का अर्थ वह व्यक्ति जो उपसना करे। दूसरे शब्दो मे अपने इष्ट देव, गुरु धर्म की उपासना[21] अर्थात आराधना या सेवा करने वाला उपासक कहलाता है। जो गृहस्थ वीतराग देव की सदैव पूजा, भक्ति स्तुति आदि करता है, वीतराग धर्म मे श्रद्धा रखता है और उसकी आराधना करता है, निर्ग्रन्थ मुनियो की सेवा (वैयावृत्य) करता है, वीतराग धर्म में श्रद्धा रखता है और उसकी आराधना करता है। इसी कारण से गृहस्थ को उपासक कहते हैं।

डा मोहनलाल मेहता ने कहा भी है-

"श्रमणवर्ग की उपासना करने के कारण वह श्रमणोपासक अथवा उपासक कहलाता है।" यहॉ विशेष रुप से उल्लेखनीय है कि अर्धमागधी वाड मय मे श्रावक के लिए समणोपासक, उपासक, एव श्रमणभूत शब्दों का अधिकतर प्रयोग किया गया है।

(iii) **अणुव्रती** : हिसा, चोरी, असत्य, कुशील (**अब्रह्मचारी**) और परिग्रह इन पॉचो पापों का त्याग कर शुभ कार्यो को करना व्रत कहलाता है। अत अहिसा, अचौर्य, सत्य, व्रह्मचर्य ओर अपरिग्रह ये पाँच व्रत कहलाते है। इनका अंश रुप से पालन करना अणुव्रती कहलाता है। अणुव्रती को देश संयमी, देश विरत भी कहते है।

(4) **संयतासंयत** : जो स्थूल त्रसजीवो की हिसादि का त्यागी होने से सयत हे और सूक्ष्म स्थावर की हिसा का त्याग न करने के कारण असयत है, उसे सयतासयत कहते हैं[22] भट्ट अकलक देव ने कहा भी है।[24]

क्षायोपशमिक विरत और अविरत परिणाम संयतासंयत कहलाता है। अथवा अनात्यन्तिकी (अपूर्ण) विरक्तता सयमासयम है। तात्पर्य यह है कि जो सयत भी है और असयत भी है, उसे सयतासयत कहते है। इसे पंचम गुणस्थानवर्ती भी कहा जाता है।

(5) **पंचम गुणस्थान** वर्ती : इस दृष्टि से श्रावक पंचम गुण स्थान वर्ती होता है। क्यो कि यहा अप्रत्याख्यानावरण कपाय तो नही होती, लेकिन प्रत्याख्यानावरण के होने से पूर्ण संयत नहीं होता है। चतुर्थ गुणस्थान वर्ती जीव पाक्षिक श्रावक कहला सकता है किन्तु इस जीव के बिल्कुल भी संयम नहीं पाया जाता है। वह स्थावर और त्रस जीवों की हिसा से विरत नहीं होता है[25] इसलिए वह नैष्ठिक श्रावक नहीं कहलाता है पंचम गुणस्थानवर्ती को श्रावक कहने का दूसरा कारण यह है कि वह स्थावर की हिसा तो करता है, किन्तु त्रस की हिसा नही करता है।

(र) श्रावक के गुण

प आशा धर (26) जी ने श्रावक के उन गुणो का उल्लेख किया है, जिनको देखकर उसे वास्तविक सागार या श्रावक माना जा सकता है।ये गुण निम्नाकित है-

1 न्यायपूर्वक धन कमाना।
2 गुण-गुरुओ की पूजा करना।
3 सद्गी (प्रशस्त वचन बोलना)।
4 निर्वाध त्रि वर्ग सेवन।
5 तदर्ह (गृहिणी-स्थानालय)।
6 ह्रीमय (लज्जाशील)।
7 योग्य आहार-विहार।
8 आर्य समिति (सत्सगतिवाला)।
9 प्राज्ञ-(विवेकवान)।
10 कृतज्ञ
11 वशी (जितेन्द्रिय)।

12 श्रवन्धर्मविधि (धर्मश्रवण)।

13. दयालु

14 अधर्म भी (पापभीरु)।

(1) **न्यायोपात्तधन** : श्रावक को न्यायपूर्वक धन कमाना चाहिए। जो अन्याय पूर्वक धन कमाता है उसे श्रावक नही कहा जा सकता है।

(2) **गुणगुरुन भजन :** श्रावक मे दूसरा गुण यह होना चाहिए की वह गुणो की, गुरुजनो और जो गुणवान है उनकी पूजा करे, उनका सम्मान करे और उनके प्रति यथोचित विनम्र हो।

(3) **सद्‌गी :** श्रावक में हित–मित वचन वोलने का गुण होना चाहिए।

(4) **निर्बाध त्रिवर्ग-सेवन** : धर्म, अर्थ और काम इन तीन वर्गो के योग्य स्त्री, ग्राम और मकान वाला श्रावक को होना चाहिए।

(6) **ह्रीमय (लज्जाशील)** : श्रावक मे समुचित लज्जा होना चाहिए।

(7) **योग्य आहार-विहार** : श्रावक मे सात्विक भोजन करने और उचित स्थानो म आवागमन करने का गुण होना चाहिए।

(8) **आर्यसमिति** : श्रावक मे सज्जनो की सगति का गुण होना चाहिए।

(9) **प्राज्ञ** : श्रावक को विवेकवान होना चाहिए।

(10) **कृतज्ञ** : कृतज्ञता गुण होना चाहिए। किसी के उपकार आदि को नही भूलना चाहिए।

(11) **वशी** : श्रावक को जितेन्द्रिय होना चाहिए।

(12) **धर्म श्रमण** : श्रावक मे धर्म सुनने की इच्छा होना चाहिए।

(13) **दयालु** : दीन दु खियो के प्रति दया का गुण होना चाहिए।

(14) पापकार्यो से डरने का गुण होना चाहिए।

(ल) **श्रावक की परिभाषा एवं विश्लेषण :-**

1. आचार्य कुन्दकुन्द : आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थो मे 'चारित्र प्राभृत (26) मे पाच अणुव्रत तीन गुणव्रत और चार शिक्षा व्रत रुप सयम का आचरण करने वाले व्यक्ति को सागार कहा गया है।

2. स्वामी कार्तिकेय : स्वामी कार्तिकेय ने 'कार्तिकेयानु प्रेक्षा' मे सर्वज्ञ द्वारा कहे गये धर्म के दो भेदो का उल्लेख किया है किन्तु इसमे श्रावक की परिभाषा उपलब्ध नहीं है।

3. स्वामी समन्तभद्र : इनके रत्नकरण्ड श्रावकाचार[28] मे भी श्रावक की कोई परिभाषा नही दी गई है, किन्तु सकल और विकल की अपेक्षा चरित्र के दो भेद वतलाकर आचार्य कुन्दकुन्द की तरह पांच अणुव्रत तीन गुणव्रत और चार प्रकार के शिक्षाव्रत रुप विकल चरित्र गृहस्थों के होने का उल्लेख किया है। इससे सिद्ध होता है किजो वारह प्रकार के विकल चरित को धारण करता है, वह श्रावक कहलाता है।

4. आचार्य जिनसेन : इन्होने अपने महापुराण मे यद्यपि श्रावक की कोई परिभाषा नही दी है,लेकिन सागार के परीक्षण के क्रम मे वहॉ कहा गया है कि मनुष्य अणुव्रतो का धारक धीर और वीर एवं गृहस्थों में प्रधान है। वे ही धनवान आदि से सम्माननीय है चक्रवर्ती भरत ने गीले हरे घास अकुरो पुष्पों और फलो से व्याप्त भवनागन से जो लोग अदर आए उन्हें भगा दिया और जो दयालु तथा पाप भीरु लोग उस रास्ते को छोडकर दूसरे रास्ते से आए उनका सम्मान किया क्योकि वे पर्व के दिन हरित अंकुरादि मे स्थित निर्दोष अनन्त निगोदिया जीवो की हिसा नही करना चाहते है। उक्त कथन से स्पष्ट है कि आचार्य जिनसेन ने उन अणुव्रतीयो और पाप भीरुओ को श्रावक कहा है, जो पर्व के दिनो मे अनन्त निगोदिया जीवो की हिसा नही करते है, ग्यारह प्रकार से क्रमश· श्रावक के धर्म का पालन करते हैं और इज्या, वार्ता, दत्ती, स्वाध्याय, सयम और तप रुप कुल धर्म का पालन करते है।

(5) आचार्य अमृतचन्द्र सूरी : आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने अपने पुरुषार्थ सिद्धयुपाय (3/41) मे हिसा, असत्य वचन, चोरी कुशील और परिग्रह का एक देश रुप से त्याग करने वाले और देश चारित्र का पालन करने वाले को उपासक कहा है। तात्पर्य यह है कि हिंसादि पॉच पापो का अंश रुप से त्याग करने वाला श्रावक कहा गया है।

(6) सोमदेव सूरि : सोमदेव सूरि ने अधर्म से रहित और धर्म कार्य के करने को चरित्र कहकर सागार और अनागार की अपेक्षा से उसके दो भेद किए है। देश (अशी) रुप से चारित्र का पालन करने वाले व्यक्ति को उन्होने (यशस्तिलक चम्पू 6/246-248) में श्रावक कहा है। इसी प्रकार से चामुण्डराय अमितगति आचार्य और वसुनन्दि के ग्रन्थो मे श्रावक की कोई परिभाषा दृष्टिगोचर नहीं होती है।

(7) आचार्य पूज्यपाद ने उमास्वाती के "सम्यग्दृष्टि श्रावक " इत्यादि सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है "वह अविरत समयग्दृष्टि अप्रव्याख्यानावरण कर्म के क्षयोपशम से परिणामो की प्राप्ति के समय विशुद्धि की प्रकर्षता होने से श्रावक होता है[29] तात्पर्य यह है कि अप्रत्याख्यानावरण कर्म चरित्र मोहनीय का एक भेद है जिसके उदय से देशविरति जीव कुछ नही कर सकता है। इसके क्षयोपशम से जीव के परिणामों मे निर्मलता आ जाती है।

(8) पं. आशाधर : ने सागार की निम्नांकित परिभाषाएॅ दी है-

(क) जिस प्रकार (वात पित्त और कफ इन तीन प्रकार के) दोषों की विषमता से उत्पन्न होने वाले (प्राकृत साध्य प्राकृत असाध्य, वैकृत साध्य और वैकृत असाध्य इन) चार प्रकार के ज्वरो से दु खी मनुष्यो मे हित और अहित का ज्ञान नही होता है उसी प्रकार अनित्य अशुचि, दुःखित आदि पदार्थो को नित्य, पवित्र सुख और अपने से भिन्न स्त्री आदि पर पदार्थों को अपना मानने रुप आदिकालीन अविद्या (अज्ञानता) रुपी (बात,पित्त एवं कफ की) विषमता से उत्पन्न होने वाली

आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चार प्रकार की सज्ञाओ रुप ज्वर से पीडित एव सदैव आत्म-ज्ञान से विमुख होकर इष्ट-अनिष्ट और राग-द्वेष इन्दियों के विषयो में लीन व्यक्ति को सागार कहते है।[30]

(ख) बीज और अंकुर की तरह अनादिकालीन अज्ञान के कारण सन्तति रुप परम्परा से आने वाली परिग्रह को छोडने मे असमर्थ और विषयों मे मूर्च्छित होने वाले को सागार[31] कहते है।

(ग) जो सम्यग्दृष्टि आठ मूल गुणो और बारह व्रतो का पूर्ण रुप से पालन करता है अरहत सिद्ध आचार्य,उपाध्याय और साधु इन पाच परमेष्ठियो के चरणो को शरण मानता है, प्रधान रुप से चार प्रकार के दान देता है, पाच प्रकार की पूजा करता है और भेद विज्ञान रुपी अमृत को पीने की इच्छा करता है, वह श्रावक कहलाता है।[32] अंतरग में राग-द्वेष आदि के क्षय की हीनाधिकता के अनुसार प्रकट होने वाली आत्मा की अनुभूति से उत्पन्न सुख का उत्तरोत्तर अनुभव होने वाले और वाह्य मे त्रस हिसा आदि पाच पापो से निवृत्त होने वाले ग्यारह देशविरत नामक पचम गुण स्थान वर्ती दार्शनिक आदि स्थानो म मुनिव्रत का इच्छुक व्यक्ति किसी एक स्थान को धारण करता है, उसे श्रावक मानता हू। श्रद्धा की दृष्टि से देखता हू।[33]

(घ) "निर्दोष सम्यक्त्व को धारण करना निर्दोष वारह व्रत का पालन करना और मृत्यु के समय विधिपूर्वक सल्लेखना करना सागार का पूर्ण धर्म है[34]"

सागार की उपर्युक्त परिभाषाओ का विश्लेषण करने पर निम्नाकित निष्कर्ष निकलते है-

(अ) सागार अनादिकालीन अज्ञानता के कारण आहार, भय मैथुन ओर परिग्रह इन चार संज्ञाओ के प्राप्त होने और न होने दोनो अवस्थाओ मे दु:खी रहता है। क्योकि जिससे संक्लिष्ट होकर इस लोक मे और विषयो का सेवन करने से परलोक मे जिसके कारण दु ख रहता है। क्योकि जिससे सक्लिष्ट होकर इस लोक मे और विषयो का सेवन करने से परलोक मे जिसके कारण दु ख मिलता है, उसे सज्ञा कहते है। संक्षेप मे इच्छा को सज्ञा कहते हैं। इन सज्ञाओ के भोगने से पापार्जन होता है। अत परलोक मे दु ख की प्राप्ति होती है।

(आ) श्रावक सदैव सचित्त भाई-बन्धु आदि में और उचित्त मकान आदि में ममत्व भाव रखता है। अहंकार और ममकार रखने के कारण इष्ट पदार्थो मे राग करता है और अनिष्ट पदार्थो मे द्वेष करता है। राग-द्वेष के कारण वह आत्मा के स्वरुप का चिन्तन नही कर पाता है। अत वह ससार मे भटकता रहता है।

(इ) श्रावक परिग्रह में आसक्त होता है।

(ई) इन्द्रियों के विषयों मे लीन रहता है।

(ऐ) श्रावक आठ मूल गुणों का पालन करता है।

(ऐ) श्रावक 12 व्रतों का पालक होता है।

(ओ) पच परमेष्ठियो का आराधक होता है।
(औ) चार प्रकार के दान देता और पाच प्रकार की पूजा करता है।
(अं) हिंसादि पांच पापों का त्यागी होता है।
(अः) सम्यक्त्व का धारक होता है।
(क) अत काल मे सल्लेखना करता है।
(ख) पर पदार्थो और आत्म स्वरुप जानने के लिए भेद विज्ञान को जानने का इच्छुक होता है।

पद्मनन्दि[35] ने उपर्युक्त सभी महत्वपूर्ण वातो का उल्लेख करते हुए कहा है कि "गृहस्थ अवस्था मे जिनेन्द्रदेव की आराधना की जाती है, निर्ग्रन्थ में विनय, धर्मात्मा मे प्रीति एवं वात्सल्य, पात्रो को दान, विपत्तिग्रस्त के प्रति दया, बुद्धि से दान तत्वो का अभ्यास व्रतो एवं गृहस्थ धर्म से प्रेम किया जाता है, निर्मल सम्यग्दर्शन धारण किया जाता है, ऐसी गृहस्थ अवस्था विद्वानो के लिए पूज्य है। इससे भिन्न अवस्था दु ख रुप है। श्रावक की" प्रतिमाओं को ग्रहण करने के पहले जुआ आदि व्यसनो का त्याग रमणीय है।"

उपर्युक्त कथन से सिद्ध होता है कि सात व्यसनो का त्याग करना श्रावक के लिए आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि आठ मूल गुणो का पालन करना भी आवश्यक है। क्योंकि सात व्यसनों का त्याग और आठ मूल गुणो का पालन किये बिना श्रावक नही कहा जा सकता है। प राजमल्ल ने पचाध्यायी मे कहा भी है[36] "ये आठ मूल गुण स्वभाव से या कुल परम्परा से पलते हुए आ रहे है। इनके बिना न व्रत होते है और न सम्यक्त्व ही होता है। इन मूल गुणो के विना जीव नाम मात्र से भी श्रावक नहीं होता है फिर पाक्षिक आदि कैसे हो सकता है? इसी प्रकार गृहस्थो को यथा शक्ति व्यसनो का त्याग करना चाहिए। पं आशाधर[37] ने भी कहा है "जिनेन्द्र देव की आज्ञा मे श्रद्धा रखते हुए हिसा का त्याग करने के लिए मद्य,मास मधु और पाच क्षीरी फल त्याग इन मूल गुणो को धारण करना चाहिए।"

यहा सात व्यसनो और आठ मूलगुणों का विवेचन अपेक्षित नही है।

(व) **श्रावक के छः आवश्यक कर्त्तव्य**

जैन वाङमय में श्रावक के कतिपय अनिवार्य कर्त्तव्यो का उल्लेख हुआ है। यशस्तिलक चम्पू[38] में सोमदेव सूरि ने देवपूजा, गुरु पूजा, स्वाध्याय, सयम, तप ओर दान ये छः आवश्यक कर्म या कर्त्तव्य बताएं है। श्रावको को ये छ काम प्रतिदिन करना चाहिए। पद्मनन्दि[39] ने कहा भी है-

देवपूजा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट कर्माणिदिनेदिने।।

सक्षेप में कहा गया है कि जिस प्रकार ध्यान और अध्ययन श्रमण के प्रमुख कर्तव्य है। इनको किये विना मुनि वास्तव मे मुनि नहीं कहलाता है। उसी प्रकार

दान और पूजा श्रावक के प्रमुख कर्तव्य है। इनको किये बिना श्रावक श्रावक कहलाने का अधिकारी नहीं होता है।[40]

उपर्युक्त आवश्यक कार्यो के किये विना व्यक्ति श्रावक कहलाने का भी अधिकारी नही होता है। इस कथन से स्पष्ट है कि श्रावक के आवश्यक कर्तव्यों को बतलाकर जैनाचार्यो ने शुभप्रवृत्ति को जागृत करने और नैतिकता के प्रचार करने में महान योगदान किया है। यदि श्रावक अपने कर्तव्यो का समुचित रुप से पालन करे तो उसे अन्य आश्रमो के धर्मो का पालन करने की आवश्यकता नहीं।श्रावक या गृहस्थावस्था ही एक ऐसी अवस्था है जो स्वय धार्मिक नैतिक जीवनयापन करते हुए दूसरो के कर्तव्य पालने मे सहायता करता है। यही करण है कि धर्म निष्ठ और कर्तव्यनिष्ठ निर्मोही श्रावक को शिथिलमोही ऋषियों से भी अधिक पवित्र कहा गया है। कहा भी है-

"यद्यपि (शुद्धाचारण करने वाले) साधु समस्त गृहस्थों से सयम में उत्तम होते है, लेकिन शिथिलाचारी किसी भिक्षु की अपेक्षा गृहस्थ संयम में उत्तम होते हैं। पद्मनन्दि ने कहा भी है-"जो रत्नत्रय समस्त देवेन्द्रो और असुरेन्द्रों से पूजित है मुक्ति का अद्वितीय कारण है, तथा तीनों लोको को प्रकाशित करने वाला है, उसे साधुजन शरीर के स्थित होने पर भी धारण करते है। उस शरीर की स्थिति उत्कृष्ट भक्ति से दिए गये जिन सदगृहस्थों के अन्न से रहती है उन गुणवान सद्गृहस्थों का धर्म किसे न प्रिय होगा। अर्थात् सब को प्रिय होगा।[41] मनुस्मृति[42] मे भी कहा है -

"सर्वेषामपि चैतेणं वेदस्मृति विधानतः।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठतः स त्रीनतोन्विमर्ति हि।।
यथा नदिनदा :सर्वे सागरेयन्ति संस्थितिम ।
तथैवाश्रमिणा : सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्।।"

अर्थात ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वान प्रस्थ और यति इन आश्रमो से वेद शास्त्रानुसार गृहस्थ श्रेष्ठ है, क्योकि रोष तीनो का गृहस्थ ही पालन करता है। जिस प्रकार नदी नाले सब समुद्र मे जाकर स्थित रहते हैं उसी प्रकार सब आश्रम वाले गृहस्थ मे स्थित रहते है, (क्योकि मनुष्य की उत्पत्ति) तथा पालन गृहस्थ से ही होता है।

अब जिज्ञासा होती है कि जब संयमी श्रावक शिथिलाचारी ऋषियो से भी अधिक पवित्र है तो क्या वह श्रावक धर्म का पालन करते हुए उसी भव मे दु ख से छुटकारा पाकर मोक्ष प्राप्त करता है या नहीं? इसका समाधान भी श्रावकाचार मे किया गया है। मोक्ष पाहुड टीका[43] मे कहा गया है कि उखली चक्की, चूल्हा, घडा और झाडू ये पचसूना दोष श्रावक मे पाए जाते है, इसलिए उनको उसी भव में मोक्ष नहीं मिलता है। किन्तु उत्तम प्रकार से अपने धर्म का पालन करने से देव-मनुष्यों के सुख को भोगता हुआ तीसरे पांचवे या आठवें भव में सिद्ध हो जाता है। आ वसुनन्दि एव प आशाधर ने भी ऐसा ही कहा है।[45]

उपसंहार : श्रावक धर्म के उपर्युक्त विवेचन के पश्चात आज के सन्दर्भ मे उसकी उपादेयता पर विचार करना भी आवश्यक है। धर्म किसी व्यक्ति विशेष के लिए नहीं होता है। उसे अपनाकर सभी व्यक्तियों का अभ्युदय हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति का अभ्युदय समाज और राष्ट् का अभ्युदय है, क्योंकि व्यक्ति सदाचारी, निर्दोष निरपराध सुखी और सतुष्ट जीवन व्यतीत कर सकता है। सपूर्ण विश्व की विकट समस्याए हल हो सकती है। प कैलाशचन्द्र शास्त्री ने अपनी कृति जैन धर्म मे कहा भी है-

"जैनधर्म में प्रत्येक गृहस्थ के लिए पाच अणुव्रतो का पालन करना आवश्यक बतलाया है। यदि उन्हे सामाजिक और राजनैतिक जीवन का भी आधार बनाकर चला जाए तो विश्व की अनेक मौलिक समस्याएं सरलता से सुलभ हो सकती हैं।"

(3) आज हिसा, भूठ, चोरी, बलात्कार, दुराचार, अनाचार, सचय, अशान्ति बेईमानी आदि से समाज प्रदूषित हो रहा है। इन बुराइयों को दूर करने के लिए श्रावक धर्म का ईमानदारी से पालन करना आवश्यक है। हिसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह का त्याग करने और अहिंसादि का पालन कर जहॉ एक ओर सदाचार का प्रचार होने से विश्व का पर्यावरण शुद्ध बनाया जा सकता है, वहीं दूसरी ओर तामसिक मद्यमास ओर मधु भक्षण का त्याग करने जल छाल कर पीने से स्वस्थ दिमाग का निर्माण हो सकता है और सात्विक भावो का प्रसार किया जा सकता है।

(4) निष्कर्ष रूप में यह भी कहा जा सकता है कि जुआ न खेलने से वेश्यागमन और पर स्त्री गमन के त्याग करने से दुराचारिता, अनैतिकता, वासनाओ का विनाश हो सकता है। वहीं दूसरी ओर शिकार न खेलने और जीव दया करने से भी प्रमोद, कारुण्य मध्यस्थ भावना उत्पन्न होती है। परस्पर मे राग-द्वेष की भावना जन्म नही लेती है। दुश्मन के प्रति उसका भाव उत्पन्न होता है कि -

"हर चीज नहीं एक मदकज पर,
एक रोज इधर, एक रोज उधर।
नफरत सेन देखो दुश्मन को
शायद वह मुहब्वत कर बैठे।"

(5) आज भौतिकता के युग में विश्व मे कृत्रिम आवश्यकताओं के कारण मानव असंतुष्ट और दु ख से ग्रस्त है। श्रावक धर्माचरण के द्वारा कृत्रिम इच्छाओ का निरोघकर सुखी हो सकता है। देव दर्शन करने से मन पवित्र हो जाता है और शान्ति का अनुभव होने लगता है। मन मे भौतिक विलासता की वस्तुओ के प्रति वितृष्णा हो जाती है, और अन्त- करण से आवाज आने लगती है-

"देखकर न फिसलो ऊपर की सफाई पर
वर्क चांदी का चढा है गोबर की मिठाई पर।"

सक्षेप मे कहा जा सकता है कि जैन धर्म ने जीने की कला सिखाई है। सयमी श्रावक अपने जीवन (आत्मिक) शक्ति का विकास करता हुआ परमात्म पद प्राप्त कर सकता है। हमारे अनेक निर्मोही एवं उत्कृष्ट संयमधारी मुनि हमारे पथ प्रदर्शक है एवं आदर्श भूत है। जैन धर्म मे शिथिलाचार का कोई स्थान नही है। यही कारण है कि समन्तभद्र जैसे आचार्य को कहना पडा है कि मोही मुनि अपने पद से च्युत हो जाता है। अत· आज श्रावको का उत्तरदायित्व अधिकतर बढ गया है। उसे श्रावक धर्म का पालन भी करना हे ओर श्रमणो की वैयावृत्त्य आदि करते हुए ऐसा प्रयास करना है कि वे किसी प्रकार से मोही न हो सके।

सहायक ग्रन्थ-संदर्भ सूची

1 मनु स्मृति, 6187
2 पदमप्रभ मल्लिधारी देव · नियमसार, तात्पर्यवृत्ति, गाथा 139/
3 जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 2, पृ 344।
4 पंचास्तिकाय गाथा।
5 (i) प. का., तात्पर्य वृत्ति टीका, पृ–4।
(ii) प्र सा तात्पर्यवृत्ति 3/6
6 चतुर्गतिमहावर्ते संसार क्षार सागर।
मनुष्यं दुर्लभविद्धि गुणोपेतं शरीरिणाम.।।
आ सकलकीर्ति प्रश्नोत्तर श्रावकाचार 1/14
7 यशस्तिलक 6/2
8 (i) वही 1/15–16 (ii) प मेधावि धर्मसंग्रह श्रावकाचर 1/4–5
9 चारितं खलु धम्मों जो सो समोत्ति णिदिट्ठो मोहक्खोह विहीणों परिणामो अप्पणों हुसमो। प्रवचनसार 1/7
10 पूज्यपादाचार्य· सर्वार्थ सिद्धि 9/18 पृ –333
11 (क) प्रश्नोत्तर श्रावकाचार 1/22, (ख) स्वामी का गा 304
(ग) रत्न करण्ड श्रावकाचार 3/4।
12 यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थ धर्ममल्पमति·।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम्।।
अमृतचन्द्राचार्य· पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, 118
13. द्रष्टव्य मध्य सिद्धान्त कौमुदी सूत्र, 550
14 श्रृणोति जिनोदितं तत्वमिति श्रावकः। शुभचन्द्र;
कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, गाथा 330 पृ 236
15 श्रावक प्रज्ञप्ति गाथा–2
16 श्रणोति गुर्वादिम्यों धर्ममिति श्रावकः। 1/15, पृ0 14।
17 वसुनन्दि श्रावकाचार, पृ–20 पर उद्धृत।
18 7/19 पृ 269, गाथा 29

19 सायाइ सग्गथे. । गा 21
20. भव्य कुमुदचन्द्रिका टीका 1/2, पृ 2
21 डा मेहता मोहनलाल जैन आचार (पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान जैनाश्रम, वाराणसी, सन् 1966 पृ 83
22 (i) तत्त्वार्थसूत्र–7 । (ii) सागार धर्मामृत 2/80।
(iii) सवार्थ सि टीका 4/5
23 पञ्चसग्रह (भारतीय ज्ञानपीठ बनारस) 1/13, 134–135
24 तत्वार्थ वार्तिक (i) 2/5/8 पृ. 108 (ii) वही 6/12/7 पृ 522।
25. जीवकाण्ड (परमश्रुत प्रभावक मण्डल, आगास, सन 1972 गाथा 6–5
26 सागार धर्मामृत (श्रावकाचार सग्रह भाग–2 1/11
27. चारित्रप्राभृत,गाथा, 22 ।
28 रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 3/5
29 आचार्य पूज्यपाद सर्वर्थसिद्धि 9/45 पृ. 458
30 सागर धर्मामृत 1/2
31 वही 1/3
32 वही 1/15
33 वही सागार धर्मामृत, 1/16
34 वही सागर धर्मामृत 1/12
35 पञ्चविशतिका 1/13–14
36 उत्तरार्ध कारिका 724–728
37 सागार धर्मामृत–2/2–3
38. यशस्तिलक चम्पू (उपासकाध्ययन), 8/879
39 पचविंशतिका 6/7
40 समण सुत्तं द्वितीय खंड 22, श्लोक 297
41 पंचविशतिका 1/12
42 6/89–90
43 गाथा–12 पर उद्धधृत।
44 । सिज्झइ तइयम्मि भवे पंचमए कोवि सत्तमट्ठमाए।
भुंजिवि सुर–मणुयसुहं पावेइ कमेण सिद्धपयं।।
वसुनन्दिश्रावकाचार, गाथा 539
।। प. आशाधर; सागारधर्मामृत, 8/111 एवं स्वोपज्ञ टीका।

प्राकृत शोधसस्थान
वैशाली (बिहार)

आगमों के प्रति विसंगतियाँ

ले पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

संपादन और संपादक

परम्परित-प्राचीनतम दिगम्बर आगम प्राय सार्वजनिक प्राकृत-भाषा में निबद्ध है। उनके सपादन के लिए जब कोई अन्य व्यक्ति स्वय सन्नद्ध होता है अथवा अन्य किसी को सपादन के लिए प्रेरित करता है तब हम सोचते हैं कि जब आगमो के मूलकर्ता उनका स्वय सपादन कर चुके तब अन्य किसी को उनके संपादक यानी सपादनकर्ता बनने का अधिकार ही कहॉ? हम नही समझ पाए कि प्राचीनतम आगमों के नए-नए सपादक बनने की परम्परा ने कब और कैसे जन्म लिया? या किसी मूलकर्त्ता ने कब किसी अन्य को सपादन के लिए अधिकृत किया? हमारी समझ से वेद, आगम, कुरान, बाइबिल, गुरुग्रन्थ साहिब जैसो का सपादन नही, अपितु छायानुकरण होता है। यदि कदाचित् दुर्भाग्यवश कालान्तर मे छायानुकरणकर्ताओं की अज्ञानता या असावधानी से छायानुकरण में विभिन्न प्रतियो मे भेद पड गया हो तो वहॉ किसी एक प्रति को आदर्श मानकर अन्य प्रतियों मे उपलब्ध पाठ भेदो को यथाशक्य टिप्पण में देने की प्राचीन परम्परा है। इसके सिवाय किसी को ऐसा अधिकार प्राप्त नही कि वह रचयिता की स्व-हस्तलिखित प्रति के बिना स्वेच्छा से किसी प्राकृत मूलपाठ का निश्चय कर सके या बदल सके। अन्यथा, पाठ में कोई परिवर्तन करने का तात्पर्य होगा कि अब तक का उपलब्ध मूल पाठ अप्रामाणिक था और अब कोई उसमे प्रामाणिकता ला रहा है-- यानी आर्ष का संशोधन कर रहा है। यदि आगमो का उपलब्ध अद्यावधि अशुद्ध था तो वह आगम की श्रेणी मे ही नही। यत **आगम तो वेद आदि की भॉति अपरिवर्तनीय और सर्वथा शुद्ध ही होता है।**

पाठको को स्मरण होगा कि श्री कुन्द कुन्दाचार्य कृत समयसार आदि के अनुचित सपादन का विरोध करते हमे लगभग 15 वर्ष हो रहे हैं और अनधिकृत संपादक व प्रकाशक समूह तथा भृष्ट-परंपरा पोषक वैसे ही लोगों द्वारा आज तक अन्याय सम्मत मार्ग ही अपनाया गया है। बावजूद इसके हमे भी उक्त पाप मे घसीटने के लिए पिछले दिनो दि 25 8 95 मे कही सदेश पहुँचाया गया है– "वे (पं. **पद्मचन्द्र जी) स्वयं समयसार का संपादन कर प्रकाशित क्यों नहीं करा देते ताकि जो शुद्ध पाठ हैं, वे व्यवस्थित आ सकें।"**

हम निवेदन कर दें कि परम्परित पूर्वाचार्यों द्वारा संपादित (कृत) आगमों का

सपादक बनने का हमे अधिकार नही। सपादन करना अनधिकार चेष्टा तो होगी ही और साथ मे पूर्वाचार्यों की अवहेलना भी। यत– न तो हमे आगमकर्त्ता ने अधिकृत किया और न ही हममे उनसे अधिक योग्यता ही। फिर पाठ-भेदों की उपलब्धि मे आचार्य के मूलशब्द रूपो को भी हम कैसे ग्रहण कर सकेगे? हम तो आगम मे जहॉ जैसा जो पाठ है (अर्थ भेद के अभाव में) उसे ही प्रमाण मानते रहे हैं और विवादित स्थलों पर '**आगम में शंका न धार**' का अनुसरण करते रहे है।

चूकि उक्त आगम, प्राकृत भाषा बद्ध है अत हम सपादक और सपादन की परिभाषा (अर्थ) के विषय मे प्राकृत कोषो को ही प्रमाण रूप मे उपस्थित करते है। तथाहि–

(1) **संपाडग (संपादक) कर्ता, निर्माता।**
संपाडण (संपादन) निष्पादन, करण, निर्माण।

—पाइअ सद्दमहण्णव (कोष)।

(2) संपाडग (संपादक) कर्ता, निर्माता, **Author, Maker**।
संपाडण (संपादन) निष्पादन, Producing, causing, करण, निर्माण, Formation, Creating.

—अर्धमागधी कोष

उक्त प्रसंगों से पाठक निर्णय करें कि उक्त आगम के **मूलकर्ता आचार्य कुन्दकुन्द संपादक हैं या वर्तमान में उछल-कूद करने वाले हम ऐरे-गैरे चन्द लोग?** हम इसका निर्णय विचारकों पर छोडते हैं। हॉ, हमारी दृष्टि स्पष्ट है कि हम किसी भी भॉति संपादक बनने के लिए तैयार नहीं।

नई ही घटना है कि कुछ दिन पूर्व एक पत्रकार ने हमारे कार्यो पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए अपनी पत्रिका मे छाप दिया– " **परमसाधुवृत्ति श्रावक, पं. पद्मचन्द्र जी शास्त्री को अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।**

बस, क्या था कुछ लोगो ने हमे टोकना शुरु कर दिया वे बोले - आप तो अच्छे खासे घूम फिर रहे है– जीवित और स्वस्थ है और हमने पत्रिकामे आपको श्रद्धांजलि अर्पित (जो मृत्यु के बाद अर्पित होती है) होने के समाचार पढे है।

हमने कहा– श्रद्धांजलि का अर्थ श्रद्धापूर्वक हाथ जोडना है और यह श्रेष्ठ शब्द है। पर, जलांजली शब्द के अनुरूप इसे मरण से जोड लिया गया मालूम होता है। लोक मे मृत्यु के बाद जल-अजली (पानी) देने का प्रचलन प्रसिद्ध है ही। संभव है ऐसा ही प्रसंग संपादक और सपादन के प्रचलन में हुआ हो और कालान्तर मे किसी अन्य की कृति को छापने के योग्य बनाने को संपादन तथा छापने योग्य बनाने वाले को सपादक नाम से सबोधित किया जाने लगा हो। पर इससे संपादक और संपादन के कोष-सम्मत अर्थो मे तो अन्तर नहीं पडता– मूलकर्ता सम्पादक होता है और सम्पादन भी उसी का, किसी अन्यका नहीं। ऐसे मे कुन्दकुन्दादि की मूल कृतियों के संपादक बनने जैसी धृष्टता हम क्यों करें?

स्मरण रहे कि आ कुन्दकुन्द की कृति 'हिमालय मे दिगम्बर मुनि' जैसी कृति नही, जिसका चाहे जो सपादक बन बैठे और चाहे जो सर्वाधिकार सुरक्षित जैसी घोषणा कर दे। आचार्य कुन्दकुन्द तो आगम धुरधर ऐसे सपादक हैं जिनका स्थान अन्य नही ले सकता। वे राष्ट्र के प्राणभूत धर्म-सन्त थे। और ज्ञान चारित्र सत भी।

क्या आपने देखा है?

उक्त पत्र में लिखा है–

"प गजाधर जी द्वारा सपादित एव प्रकाशक नेमीचन्द महावीर प्रसाद पाण्डया द्वारा वी नि स 2468 मे कलकत्ता से प्रकाशित प्राचीन समयसार प्रतियो को **क्या आपने देखा है? उन विद्वानों ने जो मूलपाठ रखे हैं, हमने वही लिए हैं।** दोनो समयसारो का विवरण इस प्रकार है–

1 समय प्राभृत (आ कुन्दकुन्द) संपादक पं० गजाधरलाल जैन, सनातन जैन ग्रन्थ माला, बनारस, सन् 1914 मे प्रकाशित,

2 समय प्राभृत (आत्मख्याति सहित) आचार्य अमृतचन्द्र कृत सस्कृत टीका, प जयचन्द जी छाबडा हिन्दी टीका सहित। प्रकाशक श्री नेमीचन्द महावीर प्रसाद पाण्डया, कलकत्ता, वी निर्वाण सवत् 2468 में प्रकाशित।"

हम स्पष्ट कर दें कि हमने किसी भी मूल प्रति के मूल पाठ लेने का सदा समर्थन किया है। ऐसे मे 'हमने मूल पाठ वही रखे है' जैसी बात कहना इनका निष्फल प्रयास है। इन्हें तो यह बतलाना चाहिए था कि **इन्होंने उक्त प्रतियों के या अन्य प्रतियों के जिन पाठों का बहिष्कार किया है वे मूलपाठ कौन से हैं** और बहिष्कार क्यो? मुन्नुडि से जब हमें पता चला कि इन्होने **उचित पाठों को रखा।** तब पढकर हमे ऐसा लगा कि इन्हे आगम में अनुचित पाठ भी दिखे, जिन्हें इन्होंने मूल पाठों से बहिष्कृत कर दिया। फलत. हमने अनेको प्रतियों को देखा। उक्त प्रतियों में से भी जो शब्द इन्होंने बहिष्कृत किए, उनकी कुछ तालिका इस भाति है। ऐसे मे तालिका देखकर ये ही बताएं कि **इन्होंने उक्त प्रतियों को देखा है क्या?** और यदि देखा है तो क्या इन प्रतियो मे इन्हे निम्न पाठ नहीं दिखे? जो उन प्रतियो का उदाहरण अपनी प्रकाशित प्रति की सफाई मे देने लगे। अस्तु। देखे इनकी बतलाई दोनो प्रतियों के (इनके द्वारा) बहिष्कृत शब्दरूप। तथाहि–

समय प्राभृत (पं. गजाधर लाल) –सन् 1914–	**समय प्राभृत (कलकत्ता) वी.नि. 2468 (प्रकाशक : नेमीचन्द महावीर प्रसाद पाण्डया)**
पुग्गल · गाथा 2, 28, 29, 30, 33, 49, 50, 60, 69, 71, 82, 84, 85, 86, 88, 90, 91 92, 93, 95, 98, 111, 114, 118, 196, 302, 303, 314, आदि	गाथा 2, 25, 28, 44, 45, 55 (कर्ता कर्म अधिकार मे) ·गाथा 10, 11, 12, 14, 17, 18, 20, 23,
चुक्किज्ज · गाथा 5	गाथा 5

अहमिक्को गाथा 41, 42, 43, 78, 218	गाथा 36, 37, 38 (कर्ताकर्म मे 5)
जाणिऊण गाथा 20	गाथा 17 पृ 69
इक्को गाथा 32	गाथा 27 पृ 84
मुणइ गाथा 37	गाथा 32 पृ 90
हविज्ज · गाथा 38	गाथा 33 पृ 91
णाऊण · गाथा 40	गाथा 35 पृ. 95
परिणमइ · गाथा 85	गाथा 11 पृ 163
करिज्ज · गाथा 106	गाथा 31 पृ 195
भणिय 153	गाथा 75 पृ 237
हवइ· गाथा 151	गाथा 73 पृ 239
जाणइ गाथा 153	गाथा 75 पृ 237
इक्कट्ठ 295	गाथा 35 पृ 410
मुणेयव्व 433	गाथा 95 पृ 581
सम्माइट्ठी गाथा 110	गाथा 8 पृ 320

पाठक विचारें। प्रश्न पाठो के लिये जाने का नहीं है अपितु इनके द्वारा उक्त आगम पाठों का बहिष्कार कर आगम पाठो को मिथ्या बताये जाने का है। और आगम को इस लॉछन से बचाने के लिए हम टिप्पण मात्र देने की बात करते रहे है और करते रहेगे। स्मरण रहे कि हमारा मन्तव्य मूल पाठ की भाषा से ही रहा है अन्य प्रयोजनो से नहीं। जैन जयतु शासनम्।

जैन परंपरा में परशुराम

ले राजमलजैन

जैन मान्यता है कि हर कालखंड में त्रेसठ शलाकपुरुष या श्रेष्ठ होते हैं जो कि अद्भुत शक्ति के धारक, प्रसिद्धि को प्राप्त करनेवाले तथा उसी भव अर्थात जन्म मे अथवा अगले एक या दो भवो मे मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस संख्या में चौबीस तीर्थकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलभद्र जो कि नारायण के अग्रज होते है तथा नौ नारायण या वासुदेव और नौ प्रतिनारायण जिनका नारायण द्वारा वध होता है, सम्मिलित है। प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव थे और इक्कीसवे तीर्थकर नमिनाथ हुए है जिनका जन्म मिथिला में हुआ था। ये राजा विजय के सुपुत्र थे। इनके तीर्थकाल मे अर्थात् इनके और बाईसवे तीर्थकर नेमिनाथ जिन्होंने केरल सहित दक्षिण भारत मे धर्म का उपदेश दिया था, के बीच के समय मे आठवा चक्रवर्ती सुभौम हुआ। जैन पुराणो मे परशुराम को इसी चक्रवर्ती का समकालीन बताया गया है।

परशुराम संबधी सबसे प्राचीन जैन उल्लेख सभवत· आचार्य शिवार्य की रचना भगवती आराधना में पाया जाता है यह कृति ईसा की प्रथम शताब्दी या उससे भी पहले की आंकी जाती है। वह मुनि धर्म से सबधित है। उसमें लोभ के कारण हिंसा के सबंध मे निम्नलिखित गाथा आई है-

रामस्य रामदग्गिस्स वच्छं घित्तूण कत्तविरिओ वि।
णिधणं पत्तों सकुलों ससाहणों लोभदोसेण ।।1388।।

अर्थात् जमदग्नि के पुत्र परशुराम की गायो को ले लेने के कारण राजा कार्तवीर्य लोभदोष के फलस्वरूप समस्त परिवार ओर सेना सहित मृत्यु को प्राप्त हुआ। परशुराम ने उसका वध कर डाला।

इसी प्रकार का सदर्भ हरिषेण के वृहत्कथाकोश मे भी उपलब्ध है। हरिषेण ने अपनी रचना को आराधनोद्धृत कहा हैं यह कृति संभवत· दसवीं सदी की है।

परशुराम संबंधी कथा कुछ विस्तार से जिनसेन प्रथम के जैन हरिवंशपुराण जो कि 783 ईस्वी मे पूर्ण हुआ था ओर गुणभद्राचार्य जिनका समय आठवी सदी है, के उत्तरपुराण में वर्णित है। इस पुराण में ऋषभदेव के बाद के तेईस तीर्थंकरों सहित शेष शलाकापुरूषो का जीवन चरित्र लिखित है।

यहां यह कथा पहले जिनसेन प्रथम के अनुसार देने के बाद उसकी तुलना की जाएगी।

आचार्य हेमचंद्र ने भी यह वृतात कुछ परिवर्तन के साथ योगशास्त्र मे दिया है जिसका उपयुक्त विवरण यथास्थान आगे दिया गया है।

हस्तिनापुर में कोरववंशी राजा कार्तवीर्य राज्य करता था जो कि बडा प्रतापी था। किसी समय उसने कामधेनु प्राप्त करने के उद्देश्य से जमदग्नि नामक तपस्वी को मार डाला। इस पर जमदग्नि के पुत्र बलशाली परशुराम ने कार्तवीर्य का वध कर दिया। इतने पर भी परशुराम का क्रोध शात नही हुआ। उन्होने युद्ध कर अनेक क्षत्रिय राजाओ को स्त्री-पुरुषो सहित मार डाला किंतु तारा नाम की गर्भवती रानी गुप्त रूप से बच निकली और कौशिक ऋषि के आश्रम में पहुंची। वहां उसने भूमिगृह मे एक पुत्र को जन्म दिया। वह तलधर मे उत्पन्न हुआ था इसलिए उसका नाम सुभौम रखा गया। ऋषि के आश्रम मे सुभौम गुप्त रीति से बढने लगा। उधर परशुराम ने सभी याचकों को मनोवांछित दान दिया एवं पृथ्वी पर एकछत्र वृद्धि को प्राप्त होते रहे जैसे-जेसे सुभौम बडा हो रहा था, वैसे-वैसे परशुराम के यहा सैकडो उत्पात होने लगे। परशुराम ने इस संबध मे निमित्तज्ञानी से पूछा तो उसने बताया कि आपका शत्रु निरतर बडा हो रहा है। यह पूछने पर शत्रु को किस प्रकार पहचाना जाए, निमित्तज्ञानी ने बताया कि आपने क्षत्रियों का वध करके उनकी दाढे एकत्रित कर रखी हैं। वे दाढे भोजन करते समय जिसके पात्र मे खीर के रूप में परिवर्तित हो जाएं, वही आपका शत्रु है। यह ज्ञात कर परशुराम ने एक दानशाला में एक बर्तन मे दाढे रखी और ब्राह्मणो को भोजन के लिए आमत्रित किया। सुभौम भी एक राजा मेघनाद से प्रेरणा पा कर उसके साथ उस दानशाला मे दर्भ का एक आसन लेकर भोजन के लिए जा बैठा। उसके सामने भी दाढों से भरा पात्र रखा गया किंतु उसके प्रभाव से वे खीर मे परिणत हो गई। इसकी सूचना मिलते ही परशुराम फरसा हाथ मे ले उसे मारने के लिए वहां जा पहुंचे किंतु जिस थाली में वह भोजन कर रहा था वह देखते ही देखते चक्र के रूप में परिणत हो गई और उस चक्र से उसने परशुराम कावध कर डाला। सुभौम आठवें चक्रवर्ती के रूप में प्रकट हुआ। इस चक्रवर्ती ने भी क्रोध मे आकर इक्कीस बार पृथ्वी को ब्राह्मणरहित कर दिया था। अंत मे अतृप्ति के कारण सुभौम मरकर सातवे नरक मे गया।

जैन मुनि जिनसेन प्रथम के इस कथन पर कि परशुराम ने शत्रुओ की दाढे इकट्ठी कर रखीं थीं आज के विवेकशील पाठक को द्वेषपूर्ण कथन की गध आ सकती है। इस संबध मे इतना निवेदन है कि जैन मुनि अपने प्राणों की कीमत पर भी असत्य कथन नही करते। जिनसेन को यह विवरण किसी प्राचीन प्राकृत रचना और उस रचना को भी संभवत मौखिक परंपरा से प्राप्त हुआ होगा। प्रस्तुत लेखक ने 1976 में हिंदी-जर्मन कोष पर विचार के लिए पूर्वी जर्मनी की दो माह की यात्रा की थी। उस समय वहां के हम्बोल्ट विश्वविद्यालय के मेजबान प्राध्यापक ने उसे वह नजरबदी शिविर Concentration बउच दिखाया था जिसमे नात्सी

सरकार ने यहूदियो के दातो का ढेर, उनके बच्चो के जूतो के ढेर तथा वे आठ-दस ऐसी भट्टिया थी जिनमे यहूदियो को जिदा जला दिया जाता था। इन ढेरों के चित्र दिखाए गए थे। हिंदी भाषा में एक मुहावरा दात तोड देने से संबंधित है। क्रोध मे कह दिया जाता है कि "मै तेरे दात तोड दूगा"। ऐसा लगता है कि यह प्राचीन काल से चली आ रही एक प्रतिशोध प्रणाली का अवशेष है। मानव वंश शास्त्र के ज्ञाता इस बात को जानते है कि कुछ आदिम जातिया शत्रुओं की अधिक से अधिक खोपडिया प्रदर्शित कर अपनी शक्ति का परिचय देती हैं। अत इस प्रकार के कथनो को केवल इतिहास मानना चाहिए, न तो उस पर गर्व करना चाहिए और न ही निंदा करनी चाहिए। केवल यही सोचना चाहिए कि शायद ऐसा भी हुआ होगा।

केरल में मूषकवश की उत्पत्ति के सबध मे एक कथा प्रचलित है जो कि मूषकवंश नामक सस्कृत काव्य मे निबद्ध है। उसके अनुसार पृथ्वी को क्षत्रियरहित करने के बाद परशुराम ने एक यज्ञ किया किंतु उसके लिए उन्हें एक क्षत्रियपुत्र की आवश्यकता हुई। उन्हे पता चला कि केरल की एक एजिमला नामक एक पहाडी मे एक क्षत्रिय रानी ने एक ऋषि के आश्रम मे एक क्षत्रिय पुत्र को जन्म दिया है और वह बडा हो रहा है। परशुराम उसे लाए और घट से उसका अभिषेक कर उसे राजा बनाया तथा उसका नाम रामघट रखा। इस पहाडी के नाम का अर्थ चूहे की पहाडी किया जाता है और इस वश के नाम का कभी-कभी शाब्दिक अर्थ भी किया जाता है। प्रस्तुत लेखक ने जिननिकेतन-श्रीमूलवासम् नामक प्रकरण मे पर्याप्त विश्लेशण के बाद यह सिद्ध किया है कि यह वश जैनधर्म का अनुयायी था औरयह कि श्रीमूलवासम् का सबंध बौद्धधर्म से नही अपितु जैनधर्म से है।

गुणभद्राचार्य ने परशुराम सबंधी जो कथा दी है वह कुछ अशो से भिन्न है और विस्तृत भी। यहां ऐसे स्थलो का निर्देश किया जाता है।

उपर्युक्त आचार्य के अनुसार सुभौम चक्रवर्ती अट्ठारहवे तीर्थकर अरनाथ के तीर्थमें उत्पन्न हुए थे। इसका अर्थ यह हुआ कि वे अरनाथ और उन्नीसवे तीर्थकर मल्लिनाथ के समयके बीच या अंतराल में किसी समय हुए। मल्लिनाथ का जन्म मिथिला मे हुआ था।

अयोध्या के इक्ष्वाकुवंशी राजा सहस्रबाहु और उसकी चित्रमती रानी से कृतवीर नामक पुत्र उत्पन्न हुआ चित्रमती कान्यकुब्ज नरेश पारत की पुत्री थी। इस राजा की बहिन श्रीमती का विवाह सहस्रबाहु के काका या चाचा शतबिदु से हुआ था। उनके पुत्र का नाम जमदग्नि था। जमदग्नि की माता का देहात हो गया इस कारण वह तापस हो गया और पचाग्नि तप तपने लगा। जमदग्नि का तप दोषपूर्ण था यह बताने के लिए गुणभद्राचार्य ने एक कथा दी है जिसके अनुसार दृढग्राही नामक राजा और हरिशर्मा नाम के एक ब्राह्मण मे गहरी मित्रता थी। राजा ने जैन मुनि-दीक्षा ले ली थी जिसके कारण वह स्वर्ग में देव हुआ और वह ब्राह्मण तापस के व्रत लेने के कारण ज्योतिष्क देव नामक निम्न पर्याय में उत्पन्न हुआ। स्वर्गस्थ देव

ने अपने मित्र को तापस-चर्या की व्यर्थता के बारे मे बहुत समझाया। इस पर दोनो ने यह स्वर्गस्थ देव ने अपने मित्र को तापस-चर्या की व्यर्थता के बारे मे बहुत समझाया। इस पर दोनों ने यह निश्चय किया कि वे पृथ्वी पर जाकर इस बात का निर्णय करेगे। इसलिए वे चिड़ा और चिडी का रूप धारण कर जमदग्नि की दाढी और मूछ मे रहने लगे।

चिडारूपधारी देव ने चिडी से कहा कि मै कुछ देर के लिए दूसरे वन में जाता हू, तब तक तुम मेरी प्रतीक्षा करना। चिडी ने उससे सौंगध खाने को कहा। तब चिडा ने कहा कि यदि मै वापस न आऊ, तो मेरी गति तापस जैसी ही हो। यह सुन जमदग्नि क्रोध मे लाल हो उठे और अपना हाथ उन दोनों को मारने के लिए उठाया। तब चिडा ने अन्य बातो के साथ ही उनसे कहा कि आप कुमारकाल से ही ब्रह्मचर्य का पालन कर रहे है। ऐसा करना सतान का घात है। क्या आपने नही सुना कि पुत्र के बिना मनुष्य की कोई गति नही होती? यह सुनकर जमदग्नि ने स्त्री मे आसक्ति व्यक्त की और ये दोनो मेरा उपकार करने वाले है यह सोचकर चिडा और चिडिया को मुक्त कर दिया। उसके बाद जमदग्नि अपने मामा राजा पारत के यहां गए। मामा ने कहा कि मेरी सौ पुत्रियो में से जो आपको पसद करेगी, उससे मे आपका विवाह कर दूंगा। किन्तु तप से कृश जमदग्नि को किसी ने भी पसद नही किया। अत मे जमदग्नि धूल मे खेल रही एक बालिका के पास गए। बालिका के हा कहने पर जमदग्नि वन की ओर चले तथा बालिका का नाम रेणुकी रख कर उससे विवाह कर लिया। तभी से यह प्रथा चली कि स्त्री के साथ रह कर तप करना ही धर्म है। उनके दो पुत्र हुए। एक का नाम था इन्द्र और दूसरे का श्वेतराम। कालातर में रेणुका के बडे भाई अरिंजय नामक मुनि रेणुकी को देखने आए। रेणुकी के कारण पूछने पर उन्होने बताया कि उसके विवाह के समय उन्होंने कुछ भी नही दिया था और अब वे उसे अमूल्य धर्मोपदेश दे रहे है। उसके अतिरिक्त उन्होने मनोवाछित फल देने वाली कामधेनू नामक विद्या और एक मत्रित फरशा भी अपनी बहिन को दिया।

कामधेन्वमिधां विद्यामीप्सितार्थप्रंदायिनीम।
तस्यै विश्राणयान्वक्रे समन्त्रं परशुं सः।। 56-98।।

एक दिन राजा सहस्रबाहु अपने पुत्र कृतवीर के साथ उस तपोवन मे आया। भाई होने के कारण जमदग्नि ने उन दोनो को भोजन कराया। भोजन के उपरात कृतवीर ने अपनी छोटी मौसी से पूछा कि राजाओ के यहां भी दुर्लभ भोजन-सामग्री आपको कैसे प्राप्त होती है? इस पर रेणुका ने कामधेनु विद्या की प्राप्ति की बात उसे बताई। इस पर कृतवीर ने वह कामधेनु विद्या रेणुका से मागी और उसके मना करने पर उससे कहा कि ससार में जो श्रेष्ठ धन होता है, वह राजाओ के योग्य होता है न कि फल खाने वाले लोगों के लिए। ऐसा कह कर वह कामधेनू को जबर्दस्ती ले जानेलगा। तब जमदग्नि उसे रोकने के लिए सामने खडे हो गए। इससे क्रुद्ध होकर कृतवीर्य ने जमदग्नि का वध कर डाला। जब

उनके दोनो पुत्र वन से लौटे, तो उन्हे क्रोध आ गया क्योकि पिता के वध को कोई भी सहन नही कर सकता है। वे दोनो अयोध्या पहुचे और वहा युद्ध कर सहस्रबाहु को मौत के घाट उतार दिया। सहस्रबाहु की रानी चित्रमती के बडे भाई शाडिल्य को जब यह ज्ञात हुआ कि दोनो भाई उसकी बहिन की सतति को पूरी तरह नष्ट कर देना चाहते है, तब वह अपनी गर्भवती बहिन को गुप्त रीति से लेकर सुबन्धु नाम निरग्रथ मुनि के पास वापस आने तक के लिए छोड आया।

रानी चित्रमती ने एक पुत्र को जन्म दिया। वन देवताओ और देवियो ने यह जानकर कि वह भावी चक्रवर्ती है, उसकी रक्षा की। बालक बड़ा होने लगा। एक दिन रानी ने बालक का भविष्य पूछा, तो मुनि सुबन्धु ने बताया कि सोलह वर्ष की आयु में वह चक्रवर्ती होगा। इस बात की पहिचान इस बात से होगी कि वह अग्नि से जलते हुए चुल्हे के ऊपर रखी कडाही के धी के मध्यमे रखे गरम-गरम पुओं को निकालकर खा लेगा।

कालांतर में तापस शंडिल्य अपनी बहिन चित्रमती को अपने घर ले गया। वह बालक पृथ्वी को छूकर उत्पन्न हुआ था, इसलिए मामा ने उसका नाम सुभौम रखा। वह शास्त्रो का अभ्यास करता हुआ गुप्त रीति से बढने लगा। उधर रेणुकी के दोनो पुत्रो ने क्षत्रिय वंश को इक्कीस बार निर्मूल कर दिया था। संबंधित श्लोक है–

अथ तो रेणुकीपुत्रौ प्रवृद्धोग्रपराक्रमै।
त्रिः सप्तकृत्वों निर्म्मपाद्य क्षत्रियान्वयम्।। 56-127।।

इन दोनो भाइयो ने मारे गए राजाओ के मस्तको को पत्थर के स्तंभों में संग्रहीत कर रखा था और वे राजलक्ष्मी का उपभोग कर रहे थे एक दिन एक निमित्तज्ञानी ने मंत्रित फरशे के स्वामी इन्द्रराम को बताया कि उनका शत्रु उत्पन्न हो चुका है। यह केसे जाना जाए यह पूछने पर उसने बताया कि अपने शत्रुओ के जो दात तुमने इकट्ठे कर रखे हैं, वे जिसके भोजन के रूप मे परिणत हो जाएं, वही तुम्हारा शत्रु होगा। यह सुन परशुराम ने उत्तम भोजन कराने वाली एक दानशाला खुलवाई।

कुछ समय बाद सुभौम को अपने पिता का वध और अज्ञातवास का रहस्य मुनि सुबन्धु से ज्ञात हो गया। परशुराम की घोषणा सुन कर सुभौम परिव्राजक का वेष धारण कर अयोध्या पहुंचा और दानशाला मे गया। वहा उसे कर्मचारियो ने राजाओं के संचित दांत दिखलाए किंतु वे दांत सुभौम के सामने शालि चावलो के रूप मे परिणत हो गए। यह समाचार पाकर उसे पकड कर लाने की आज्ञा दी गई किंतु सुभौम ने जाने से इन्कार कर दिया। उससे परशुराम को बडा क्रोध आया। वे सेना सहित युद्ध के साधन लेकर आ गए। सुभौम भी उनके सामने आ खडा हुआ। परशुराम ने सेना को युद्ध की आज्ञा दी किंतु जिस देव ने जन्म से लेकर अभी तक सुभौम की रक्षा की थी, उसके प्रभाव से वह उसके सामने नही ठहर सकी। तब परशुराम ने अपना हाथी सुभौम की ओर बढाया कितु उसी

क्षण सुभौम के लिए भी एक मदोन्मत्त हाथी प्रकट हो गया। उसके साथ ही एक चक्ररत्न भी उसके हाथ मे आ गया। सुभौम एक हजार आरे वाले उस चक्र को लेकर परशुराम की ओर बढा। परशुराम भी क्रुद्ध होकर उसे मारने के लिए आगे बढे। किंतु आठवे चक्रवर्ती सुभौम ने परशुराम का वध कर दिया तथा उनकी सेना को अभयदान दे दिया। तदनंतर उसने भरतखंड के छहो खंडो पर राज्य किया।

आचार्य जिनसेन प्रथम और आचार्य गुणभद्र द्वारा लिखित इन कथाओ मे कुछ अंतर है। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि दोनों के सामने अलग-अलग पुराण मौजूद थे। यह भी स्मरणीय है कि दोनो आचार्यो ने स्पष्ट लिखा है कि अपने से पूर्व के आचार्यो के पुराणो के आधार पर उन्होने अपने पुराणो की रचना की है। उनसे पूर्व की मौखिक परपरा के कारण भी विवरणों मे अंतर आ जाना सभव है। अन्य भारतीय परपराओं मे भी ऐसा हुआ है। धार्मिक उथल-पुथल, आक्रमणो आदि के कारण बहुत-सा जैन साहित्य भी नष्ट हो गया। यहा केवल इतना ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि परशुराम सबंधी जैन परपरा भी अत्यत प्राचीन है। उसके एक अश जैन राजा सुभौम, उसकी माता का अज्ञातवास आदि तथ्यो की पुष्टि मूषकवश काव्य से भी होती है जिसके प्रारभिक सर्गो से स्पष्ट है कि उसके प्रारभिक राजा जैन धर्मके अनुयायी थे। केरल के इतिहास के लिए यह काव्य महत्वपूर्ण है और केरल के इतिहासकार उसके कुछ भाग को ऐतिहासिक मानते है। जैन सम्राट खारवेल ने अपने हाथी गुफा शिलालेख मे जो कि लगभग 2200 वर्ष प्राचीन है, मूषकनगर का उल्लेख किया है।

आचार्य हेमचंद्र (बारहवी सदी) ने भी अपने ग्रथ योगशास्त्र मे परशुराम सबधी कथा दी है। आचार्य का प्रयोजन हिसा के परिणामो को दर्शाना है। उन्होने लिखा है कि प्राणियो का घात करने से रौद्रध्यान (क्रूरतापूर्ण य क्रोधपूर्ण भाव) के कारण सुभौम और ब्रह्मदत्त जैसे चक्रवर्ती सातवे नरक मे गए जहा भीषण यातनाएं प्रतिक्षण सहनी पडती है। सुभौम की कथा परशुराम की कथा के अतर्गत ऊपर दी जा चुकी है। हेमंचद्राचार्य ने सबसे पहले जमदग्निके जन्म की कहानी दी है जो कि जिनसेन प्रथम और गुणभद्राचार्य के पुराणो मे नही है। वह इस प्रकार है—

बसन्तपुर मे अग्निक नाम का एक अनाथ बालक रहता था। वह एक व्यापारी दल के साथ दूसरे देश के लिए निकल पडा किंतु मार्ग मे वह दल से बिछुड गया और घूमते-घूमते जमद् नाम के तापस के आश्रम में पहुंचा। जमद्ने उसे अपना पुत्र मान लिया और वह जमदग्नि के नाम से प्रसिद्ध हुआ जोकि तप करते-करते तेजोराशि ही बन गया।

किसी समय वैश्वानर नाम के जिनधर्मी देव और तापसभक्त धनवन्तरि मे यह विवाद हुआ कि जैन साधु और तापस दोनों में से कौन श्रेष्ठ है। वे इसकी परीक्षा के लिए निकले। उन्हें मिथिला का राजा जैन साधु के वेष में दिखाई दिया। उसने हाल ही में दीक्षा ली थी। उन दोनो ने उससे आहार ग्रहण करने की प्रार्थना की

कितु उसने आहार लेने से इन्कार कर दिया क्योकि वह नियमानुकूल नही था। इस पर उन देवो ने उसके मार्ग मे काटे और नुकीले ककर बिछा दिए। मगर वह इस उपसर्ग को भी शांतिपूर्वक सहन करता रहा। अतमे उन्होने नृत्य, संगीत का भी आयोजन किया तथा सिद्धपुत्र का रूप बनाकर उससे कहा कि यौवनावस्था मे तप करना उचित नही। इन सब बातो से भी जैन मुनि की कठिन दीक्षा के लिए उत्सुक राजा पद्मरथ विचिलत नही हुआ। इस पर वे देव धन्य कह कर तापस जमदग्नि की परीक्षा लेनेके लिए निकले।

जमदग्नि के तप की परीक्षा, दोनो देवो द्वारा चकवा और चकवी का रूप धारण कर जमदग्नि की दाढी मे निवास करना और उनके वार्तालाप तथा जमदग्नि का नेमिकोष्ठक नगर में जाकर जितशत्रु से उसकी कन्याओ से विवाह सबंधी प्रश्न एव रेणुकी से विवाह आदि की कथा वही है जो कि ऊपर दी जा चुकी है। केवल इतना ही अंतर है कि पति रूप मे अस्वीकार किए जाने पर जमदग्नि ने अपने शाप से राजकन्याओ को कुबडी बना दिया। जब रेणुकी गर्भवती हुई, तो जमदग्नि ने उससे कहा कि मै तेरे लिए एक चरू मत्रित करके तैयार कर रहा हूं। यदि तू उसका भक्षण करेगी, तो उसके प्रभाव से ब्राह्मणो मे श्रेष्ठ पुत्र प्राप्त होगा। इस पर रेणुकी ने कहा कि हस्तिनापुर मे उसकी बहिन अनंतवीर्य राजा की पत्नी है। उसके लिए एक मत्रसाधित क्षात्रचरू तैयार कर दीजिए। जमदग्नि ने दोनों चरू रेणुका को दे दिए। इधर रेणकी ने सोचा कि मै वन मे अकेली रहती हू। यदि मेरा पुत्र क्षत्रिय हो तो अच्छा रहेगा। इसलिये उसने क्षात्रचरू का भक्षण कर लिया। दोनों ने पुत्रो को जन्म दिया। रेणुकी ने अपने पुत्र का नाम राम रखा और उसकी बहिन ने अपने पुत्र कानाम कृतवीर्य रखा। राम क्षत्रिय तेज केसाथ बडा होने लगा। एक दिन एक विद्याधर अपनी आकाशगामी विद्या भूल गयाऔर अतिसार रोग से पीडित होगर जमदग्नि के आश्रम में पहुचा। राम ने उसकी सेवा की जिससे प्रसन्न होकर विद्याधर ने राम को पारशवी अर्थात् परशु संबधी विद्या दी। उसे सिद्ध कर राम परशुराम के रूप मे प्रसिद्ध हुआ।

कालांतर मे रेणुकी अपनी बहिन के यहा हस्तिनापुर गई वहा उसके जीजा ने उसके साथ कामक्रीडा की जिसके फलस्वरूप रेणुका ने एक पुत्र को जन्म दिया। फिर भी आसक्तिवश उसे जमदग्नि उसे अपने यहा ले आया। रेणुका को पुत्रसहित देखकर परशुराम को बहुत क्रोध आया और अपने परशु से उस बालक का वध कर डाला। अनंतवीर्य को जब यह ज्ञात हुआ, तो उसने जमदग्नि के आश्रम पहुचकर सब कुछ नष्ट कर डाला। इस कांडकी जानकारी मिलते ही परशुराम ने अपने फरसे से अनन्तवीर्य के टुकडे-टुकडे कर डाले। लोगों ने उसके अल्पवयस्क पुत्र को राजा बनाया। बडा होने पर जबउसे अपने पिता की हत्या का पता चला, तो उसने जमदग्नि का वध कर डाला। इससे परशुराम का क्रोध भडक उठा और उन्होंने हस्तिनापुर जाकर कृतवीर्य को मौत के घाट उतार दिया तथा स्वय राजकार्य संभाल लिया। कृतवीर्य की गर्भवती रानी एक आश्रम में पहुंची जहा तापसो ने

उसकी रक्षा की। रानी ने एक पुत्र को जन्म दिया। तथा भूमिगृह मे उत्पन्न होने के कारण उसका नाम सुभूम रखा। परशुराम का क्रोध इतना बढा कि उनके परशु ने हजारों क्षत्रियों का वध कर डाला। एक दिन वे उसी आश्रम मे पहुंचे जहा सुभूम बडा हो रहा था। वहा जब उनका परशु जलने लगा, तब उन्होंने तापसों से पूछा, "क्या यहा कोई क्षत्रिय है?" उन तापसों ने उत्तर दिया कि हम क्षत्रिय ही तापस बने है। यह सुनकर परशुराम ने सात बार पृथ्वी को क्षत्रियरहित कर दिया। इसके आगे की खीर संवंधी भविष्यवाणी ऊपर दिए गए कथानक के अनुसार है।

सुभूम ने भी इक्कीस बार पृथ्वी को ब्राह्मणो से रहित कर दिया। उसने अपने पिता का राज्य पुन प्राप्त किया तथा चारो दिशाओ मे अपनी सेना घुमाकर छह खंडो का चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। इस चक्रवर्ती ने "पश्चिम दिशा की विजय के चिन्हस्वरूप सुभटो की हड्डियो को पश्चिमी समुद्र तट पर इस प्रकार बिखेर दिया मानों समुद्र तट पर चारो ओर सीप और शख फैले हो" किंतु युद्ध में निरन्तर पंचेन्द्रिय जीवों की हत्या के कारण यह अतिम सातवे नरक मे यातनाए भोगने का भागी बना।

परशुराम संबधी श्रमण और ब्राह्मण उक्त कथाओं से कुछ निष्कर्ष निम्न प्रकार सभव है—

किसी समय इन दोनो परपरा के अनुयायियो मे भयकर सघर्ष एव रक्तपात हुआ। इसका प्रारभ सभवत मिथिला मे हुआ जहा तीर्थकर नमिनाथ का जन्महुआ था और जिनकी वश परपरा मे राजा जनक जन्मे थे। मिथिला से सवंधित यह तथ्य सुविदित है कि आत्मविद्या का ज्ञान ब्राह्मणों ने क्षत्रियो से प्राप्त किया था। उपनिषदो से इस बात की पुष्टि होती है। इस प्रकार यह कथा इक्कीसवे तीर्थकर नमिनाथ से जुड जाती है। उनके बाद बाईसवे तीर्थकर नेमिनाथ हुए है जो श्रीकृष्ण के छोटे भाई थे। नेमिनाथ वसुदेव के सबसे बड़े भाई समुद्रविजय के पुत्र थे। अत ये घटना महाभारत काल से पूर्व की हो सकती है। इस सघर्ष की समाप्ति केरल मे या पश्चिमी समुद्र तट पर हुई।

परशुराम के क्रोध से एक क्षत्रिय बालक बच गया था जो कि जैन परपरा के अनुसार आठवा चक्रवर्ती सुभौम हुआ। केरल मे प्रचलित ब्राह्मण परपरा का भी यही कथन है कि परशुराम ने ही क्षत्रियपुत्र को राजा बनाया और उसका नाम रामघट रखा। वह मूषकवश का संस्थापक बना। केरल के इतिहास मे इस वंश का महत्वपूर्ण स्थान है। इससे सुदूर अतीत में भी केरल मे जैनधर्म का अस्तित्व अनुमानित करने मे बहुत बडी आपत्ति सभवत नही हो सकती।

बी-1/324 जनकपुरी
नई दिल्ली-110058

प्राकृत वैद्यक
(प्राकृत भाषा की आयुर्वेदीय अज्ञात जैन रचना)

ले. कुन्दन लाल जैन

"नास्ति किञ्चिदनौषधर्मिह' के प्रवक्ता तक्षशिला विश्वविद्यालय के नव दीक्षित स्नातक जब गुरुदक्षिणा स्वरूप आशीर्वचन लाभार्थ गुरुजी के पास पहुचे तो गुरु जी ने कहा कि तक्षशिला की चार कोस परिधि से कोई ऐसी वनस्पति ढूढकर लाओ जो औषधि रूप मे न प्रयुक्त होती हो। जिज्ञासु स्नातक छ माह तक तक्षशिला की परिधि मे सारे वन प्रान्तर स्थित वनस्पति जगत को टटोलता रहा तथा सूक्ष्मदृष्टि से अनुसधान भी करता रहा पर उसे एक भी पत्ती ऐसी न मिल सकी जिसका औषधि रूप मे प्रयोग न होता हो।

ऐसे विशाल और अगाध वैद्यक ज्ञान के भण्डार भारत ने विदेशो मे अपनी गौरव गाथा गाई थी, भारत का आयुर्वेद, ज्योतिष और दर्शन के क्षेत्र में विश्व में शीर्षस्थ स्थान था सिकन्दर महान् जब भारत से वापिस लौट रहा था तो अपने साथ भारतीय दार्शनिको, भिषगों एवं ज्योतिषियों को अपने साथ यूनान ले गया था और वहां इनसे इन्ही क्षेत्रो मे शोघ खोज और ज्ञान की वृद्धि कराई थी। अंग्रेजो के आने से पहले हमारा आयुर्वेद विज्ञान सर्व सम्मत और सर्वमान्य था, पर विदेशियो की ऐलोपैथी ने हमारी धरोहर को आभाहीन कर दिया। भारतीय वाडग्मय की श्रीवृद्धि में जैन सतो, आचार्यो एव विद्वानो का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। पूज्यपाद स्वामी और आचार्य समन्तभद्र जैसे महान् मनीषी इसके साक्षात उदाहरण है। आयुर्वेद के क्षेत्र मे भी इनकी महान कृतियां उल्लेखनीय है पर हमारी प्रमत्तता और अज्ञता के कारण आज वे सर्वथा अनुपलब्ध है पर उनकी शोघ खोज नितान्त आवश्यक है।

ऐसे ही एक अज्ञात आयुर्वेदज्ञ मनीषी श्री हरिपाल की दो कृतिया प्राकृत वैद्यक और योगनिधान शीर्षक से हमे एक वृहत्काय गुटके से प्राप्त हुई हैं। इस गुटके में लगभग 118 छोटी-बडी, ज्ञात-अज्ञात, प्रकाशित-अप्रकाशित जैन रचनाओं का विशाल सग्रह प्राकृत, अपभ्रश एवं संस्कृत भाषा में निबद्ध है। इन सभी रचनाओं के विषय में हम भविष्य में कभी विस्तृत प्रकाश डालेगे, अभी हाल तो हरिपाल कृत प्राकृत वैद्यक की ही चर्चा इस निबध मे करेगे। प्राकृत वैद्यक का रचना काल पौष सुदी अष्टमी स 1341 तदनुसार 1288 A D ई है।

जिस गुटके से यह कृति प्राप्त हुई है उसका विवरण प्रस्तुत है। गुटके में कुल 464 पत्र है तथा पत्रो की लम्बाई 25 सें मी चौडाई 16½ सें मी. है। प्रत्येक

पत्र पर पंक्तियो की सख्या 15 है तथा प्रत्येक पंक्ति मे अक्षरो की सख्या 32 33 है। गुटके की लिपि अति सुनदर और अत्यधिक सुवाच्य है। काली और लाल स्याही का प्रयोग किया गया है। सबसे बडी विशेषता इसमे विराम चिन्हो के प्रयोग की है जो हमने अभी तक अन्य पाडुलिपियो मे नही देखी है, यद्यपि हमने हजारो पांडुलिपियों का सर्वेक्षण कर Discreptive Catalogue तैयार किए है जिनका एक भाग 'दिल्ली जिन ग्रन्थ रत्नावली' के नाम से प्रकाशित है शेष 7 8 भाग प्रकाशन के लिए तैयार है। विराम चिन्हों का प्रयोग इस गुटके की अति विशिष्टता है। इस गुटके के बीच में कुछ पत्र अत्यधिक जीर्णशीर्ण हो गये हैं। किसी तरह पानी में भीग जाने के कारण वहुत से पत्र आपस में चिपक गये हैं जिनको बडी सावधानी और परिश्रम से पृथक्-पृथक् करना पडा है फिर भी अभी कुछ पन्ने तो चिपके पडे है जिन्हें पृथक्-पृथक् करना ही होगा पर डर लगता है कि पत्र टूटकर फट न जावें।

सबसे बडा दु ख इस बात का है कि इस गुटके के आदि और अंतिम पत्र प्राप्त नही है। अतिम पत्र तो अत्यन्त महत्वपूर्ण है जिसमे लिपिकर्ता, लिपिकाल तथा प्रशस्तिवाचक सामग्री विद्यमान होती है। इस पत्र मे ऐतिहासिक तथ्यो की जो जानकारी मिलती उससे हम वञ्चित रह गये है। यह हम लोगों की असावधानी और प्रमत्तता का ही परिणाम है।

लिपिकार प्राकृत और पराकृत शब्दो के अन्तर से अनभिज्ञ रहा अत· उसने "प्राकृत वैद्यक" को पराकृत वैद्यक लिख दिया है। प्राकृत वैद्यक नाम कृति गुटके के पत्र सख्या 391 से प्रारंभ होकर पत्र संख्या 407 II पर समाप्त होती है। पर बीच में पत्र संख्या 401 पर पराकृत वैद्यक लिख समाप्तम् लिखकर "णमिऊण वीयरायं गाथा लिखकर योगनिधान वैद्यक नामक दूसरी रचना की सूचना देता है और 108 गाथाएं लिखकर पुनः पराकृत वैद्यक समाप्तम् लिखता है। इससे विदित होता है कि प्राकृत वैद्यक केवल एक ही रचना हो और योगनिधान इसका दूसरा भाग हो? पर यदि योगनिधान को प्राकृत वैद्यक भाग माना जाय तो फिर 'णमिऊण वीयराय वाली मंगलाचरण स्वरूपी गाथा का उपयोग क्यो किया गया है? दूसरे मगलाचरण मे स्पष्ट विदित होता है कि योगनिधान एक स्वतत्र रचना है और प्राकृत वैद्यक एक स्वतत्र रचना है, यद्यपि योगनिधान मे प्राकृत वैद्यक की भाति रचनाकार का नाम तथा रचनाकाल आदि का कोई उल्लेख नहीं है अत· हमें दोनों कृतियो पर दो भिन्न भिन्न निबध लिखने पड रहे है। इन दोनों कृतियों की विशेषता है कि ये प्राकृत भाषा मे निबद्ध हैं और रचनाकार जैन है और दिगम्बरी है और विषय तो आयुर्वेद से संबंधित है ही। प्रमाणस्वरूप दोनों रचनाओं के दोनों मंगलाचरण है, जिसमें जिनेन्द्र भगवान रूपी वैद्य को प्रणाम किया गया है।

णमिऊण जिणो बिज्जे भवभमणे वाहि फेऊण मत्थो।
पुणु विज्जयं पयासमि जं भणिय पुव्वसूरीहि ।।1।।

योगनिधान का मंगलाचरण निम्न प्रकार है जिसमें वीतराग प्रभु की वंदना की गई हैं :—

णमिऊण वीयरायं जोयविसुद्धं तिलोयउद्धरणे।

जोयनिहाणं सारं वज्जरिमो मे समासेण।।1।।

प्राकृत वैद्यिक में कुल 257 गाथाए है तथा योग निधान मे कुल 108 गाथाए है। पर प्राकृत वैद्यक मे योगनिधान की भाति अध्यायो का वर्गीकरण नही है इसमे तो विभिन्न रोगो के उपशमन हेतु विभिन्न औषधियो के प्रयोग निबद्ध है।

अपना नामोल्लेख करते हुए कृतियो को गाथाबद्ध रचने हेतु कवि ने निम्न गाथा दी है –

गाहांबंधे विरयममि देहीणं रोयणासणं परमं।
हरिवालो जं बुल्लई तं सिज्झइ गुरु पसायणं।।2।।

रचना की समाप्ति करते हुए कवि अपनी अज्ञता और मंदबुद्धि के लिए बुद्धिमन्तों से क्षमा याचना करते हुए विनय प्रकट करता है तथा अपने कर्तृत्व को प्रस्तुत करता है –

हरिवालेण य रयियं पुव्व विज्जोहिं जं जिणिद्दिट्ठं।
बुहयण तं महु खमियहु हीणहियो जं जि कव्वोय।। 256।।

इस कृति के रचनाकाल को प्रस्तुत करते हुए कवि निम्न गाथा लिखता है –

विक्कम णरवइकाले तेरसय गयाइं बयताले। (1341)
सिय पोसट्ठमि मंदो विजयसत्थों य पुणोया।। 257।।
इति पराकृत (प्राकृत) वैद्यकं समाप्तम्।

विस्मय की बात है कि कवि जैन होते हुए भी मधु और मूत्र प्रयोगो का उल्लेख बहुलता से करता है, नरमूत्र का प्रयोग भी लिखा है। हो सकता है कि आगे आयुर्वेदीय सिद्धान्तो का महत्व अधिक रहा हो और धर्मिक दृष्टि गौण कर दी हो, यही भी संभव है कि स्थान भेद के कारण उपर्युक्त प्रयोग ज्यादा अनुचित न समझे जाते हों, अभी पं. मल्लिनाथ जी शास्त्री मद्रास की पुस्तक से ज्ञात हुआ कि तमिल प्रान्त मे लौकी (घिया) अभक्ष्य मानी जाती है बहुबीज के कारण जबकि उत्तर भारत में वह मुनि आहारके लिए उत्तम साग माना जाता है। ऐसा ही कोई विवाद उपर्युक्त प्रयोगों के सबध मे रहा हो। स्व मोरारजी भाई स्वमूत्र को चिकित्सा और स्वास्थ्य के लिए आम औषधि मानते थे, गुजरातमे यह प्रयोग बहुत प्रचलित हे। गर्भ निरोधक औषधि के लिए भी एक गाथा लिखी है।

गाथा संख्या 255 से ज्ञात होता है कि कवि के समख योगसार नामक कोई आयुर्वेदीय ग्रथ रहा होगा जिसके खोज की आवश्यकता है। हो सकता है यह ग्रंथ हरिपाल की ही कृति हो अथवा संभव है किसीअन्य की कृति का उल्लेख हो यह शोध का विषय है। यहां हम प्राकृत वैद्यक की 16 गाथाएं अविकल रूप में प्रकाशनार्थ प्रस्तुत कर रहे है शेष गाथाएं अगले अंकों में क्रमश· प्रकाशित करावेंगे। कृपालु पाठकों से निवेदन है कि मूल ग्रंथ को मेरी अनुमति के बिना प्रकाशन की दुश्चेष्टा न करें ना ही इसके अनुवादादि का कार्य मेरी लिखित स्वीकृति के बिना किया जावे।

प्राकृत वैद्यक : हरिवालकृत

पौष सुदी अष्टमी सं. 1341

णमिऊण जिणो बिज्जो भवभमणे वाहि फेडण समत्थे।
पुणु बिज्जयं पयासमि जं भणियं पुव्व सूरीहि।। 1।।
गाहाबधे विरयमि देहीणं रोय णासणं परमं।
हरिवालो जं बुल्लइ तं सिज्झइ गुरु पयासण ।। 2।।
वाडब गुरु जावत्ती तजिय सु अहि कुसुम सम उण्ह जले।
पय कंकोलि णिवंसं णासे सिर वत्ति णासेइ।। 3।।
सक्कर कुकुम वंझा समभायं पयह सयुया पयह।
तोए खीर समाण णासे पाणेण णिभूती।। 4।।
अइ दारूण सिररोया हणुथंभं कोढरोय णासेइ।
अवरे वि उद्ध दोसा हरइ जहा तमभर रविणा।। 5।।
रवि खीरेणयमासा भावण सत्ताइ देवि सुक्कविया।
पुणु दट्ठामसि कित्ता कडुतइं लेमत्थय भरह।। 6।।
णासति सयल रोया चामादय फोडया चेव।
खंभाइं जे हु सज्झा मत्थस्सय णत्थि सदेहो।। 7।।
आवलय फल किरवालरस सुपवाउ बीयाइ।
लक्खा चुण्ण सीसे लिविदा दारूणरोया पणासेई।। 8।।
वायबिडंगा पत्ताय पिप्पलिमूढं सकक्डा सिंगी।
रयणीवलाहा सिरलेवि समत्था दोसहर।। 9।।
विल्लगरूं जुणगुलिय विणट्ठ सीसो विलिबिथो वेह।
हुं ति हुं वीयापिहया केसा अइ णिम्मला सब्बा ।। 10।।
एरण्डस्सय मूल कंजिय पीसे विलेविणे दिणे।
पचाडहल अह कंजियपीसे विलेविणे दिणे।
पंचाडहल अह कजिय लेवे सिरवत्ति णासेइ ।। 11।।
भइलेण भिणधत्थ सुरदारो जालितं जि भरणेण।
णासेई सूलअवर सिपिसिमियं काण्णिज होई ।। 12।।
रामठ सुंठी तुंवरू पडिकारि ससोलम सुपलं णीरं।
चउपल से सं ...डए पचियं पिकसा रूयणासं ।। 13।।
वसुजट्ठी अडबाह जलपल कढियावि सेसवत्ती।
खलुगुण तइल पलुचिकसी रत्तंगी पचिय कणरुय णासं ।। 14।।
मक्कव रस कइवाइं. यि खीरोवि तेलसमएं च।
सेस्स लोहल्लजहे पचिवो सुद्धो उ दुई लेह।। 15।।
पासे रंतह कुट्ठ चुणं मिलिऊण सीस भरणेण।
तिमिरासण वायं वररूया सयल णासेई।। 16।।

क्रमशः

— विश्वासनगर, शाहदरा दिल्ली।

सांख्य योग दर्शन में प्रतिपादित अहिंसा पर जैन दर्शन का प्रभाव

—डा जय कुमार जैन, मु नगर

साख्य दर्शन लौकिक उपायों के समान ही वैदिक कर्मकाण्ड को अकिञ्चित्कर स्वीकार करता है। उनके अनुसार अदृष्ट फल के साधक यज्ञादि भी क्षय, अतिशय एव हिसाजन्य अविशुद्धि से युक्त है। ईश्वरकृष्ण ने कहा है—

'दृष्टिवदानुश्रविक. स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्त.।।' 1

वैदिक परम्परा म पशुयाग को श्रुतिसम्मत हाने से कर्त्तव्य कर्म के अन्तर्गत परिगणित किया गया है और यह माना गया है कि याग मे हिसित पशु पशुभाव को छोडकर मनुष्य भाव के प्राप्ति के बिना ही सद्य देवत्व को प्राप्त कर लेता है। अत यजमान एव पशु दानो की दृष्टि से यागानुष्ठान की उपादेयता मानी गई है। परनतु साख्य दार्शनिको का कथन है कि याग मे पशु हिंसा कर्म से पशु को प्राणवियोग रूप असहनीय क्लेश सहना पडता है। अत हिसा होने से पुण्य की समग्रता नही रहती है।2 भागवन के साथ साख्य के प्रगाढ सम्बन्धो का प्रमुख आधार अहिसा ही है।

योग दर्शन मे मन-वचन-काय से क्रमश अनिष्टचिन्तन, परुषभाषण तथा ताडन आदि के द्वारा किसी प्राणी को पीडा पहुचाना हिसा कहा गया है। योगसूत्र के व्यासभाष्य मे हिसा की कृत, कारित एवं अनुमोदित रूप से त्रिविधता मानकर लोभजन्य, क्रोधजन्य एव बलिदान जन्य भेद किये गये है।3 इसके विपरीत सर्वप्रकार से सर्वकाल मे किसी प्राणी को पीडा न पहुंचाने रूप अद्रोह को अहिसा कहा गया है।

साख्य योग की दृष्टि मे समस्त यम-नियमो मे अहिंसा ही प्रमुखतया सार्वभौम धर्म स्वीकार किया गया है। यहॉ यह ध्यातव्य है कि सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का अहिसा से पारस्परिक विरोध के अवसर पर अहिसा की मुख्यता मानी गई है। समस्त यम-नियम अहिंसामूलक है तथा उनका प्रतिपादन अहिसा की विशुद्धि के अभिप्राय से किया गया है।5 व्यासभाष्य मे सत्य की विवेचना करते हुए स्पष्टत लिखा है—

''एषा सर्वभूतोपकारार्थे प्रवृत्ता। न भूतोपघाताय। यदि चैवमप्पाभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत्, पापमेव भवेत्। तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण

कष्टं तमः प्राप्नुयात्। तस्मात्परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्।"

स्पष्ट है कि अहिंसा को सत्य से भी बढ़कर अधिक महत्व देना सांख्य-योग दार्शनिकों के आचार की आधार शिला है। अतः उनकी दृष्टि में प्राणियों की प्रत्येक क्रिया अहिंसामूलक होना चाहिए। अहिंसा की प्रतिष्ठा हो जाने पर योगियों के निकट नैसर्गिक विरोधी प्राणियों का भी बैर निवृत्त हो जाता है अर्थात् जिस योगी को सर्वथा एवं सर्वदा हिंसाविरति एवं अहिंसानिष्ठा हो जाती है, उसके पास में स्वाभाविक विरोधी अहि-नुकुल, मृग-सिह, मूषक-मार्जार आदि प्राणी मित्रता को प्राप्त हो जाते हैं। सांख्य-योग की स्पष्ट अवधारणा है कि अहिंसा की मंजिल को पूरी किये बिना साधना एवं विचारणा में गति और प्रगति असंभव है।

सांख्य-योग दर्शन के प्रतिपादक महाभारत में महर्षि वेदव्यास ने अहिंसा के सर्वातिशायी महत्व का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि जिस प्रकार हाथी के पैर में सब प्राणियों के पैर समा जाते हैं, उसी प्रकार अहिंसा में सब धर्मों के तत्त्व समा जाते हैं। ऐसा जानकार जो अहिंसा का परिपालन करते हैं, वे अमर होकर शाश्वत मोक्ष मे निवास करते है। उनकी दृष्टि मे अहिसा परम धर्म, परम तप, परम सत्य, परम संयम, परम दान, परम यज्ञ, परम फल, परम मित्र और परम सुख है–

"अहिंसा परमो धर्मस्तथा ऽ हिंसा परं तपः।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते।।
अहिंसा परमो धर्मस्तथा ऽ हिंसा परो दमः।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः।।
अहिंसा परमो यज्ञस्तथा ऽ हिंसा परं फलम।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम्।।"

जैन दर्शन में अहिंसा का परिगणन पाँच व्रतों में सर्वप्रथम किया गया है। सत्यादिक शेष चार व्रतों को अहिंसाव्रत की वाड़ स्वीकार किया है। अहिंसा को अच्छी तरह पाल लेने पर सत्यादिक सभी व्रत पल जाते हैं। अतः मूल तो अहिंसा व्रत ही है। अहिंसा का पालक सभी व्रतों का पालक होता है। हिंसा का स्वरूप बताते हुए गृच्छपिच्छार्य उमास्वामी ने कहा है–

'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।' 11

अर्थात् प्रमाद के योग से प्राणों का व्यपरोपण हिंसा है। जैनदर्शन की हिंसा की यह परिभाषा ही योगदर्शन में कहीं गई मन-वचन-काय से प्राणी को पीड़ा पहुँचाने रूप हिंसा में देखी जा सकती है। योगसूत्र में प्रयुक्त कृत, कारित और अमुनत शब्द भी जैन दर्शन से लिए गए है। सम्पूर्ण वैदिक परम्परा में इनका अन्यत्र कहीं प्रयोग नहीं है। योगदर्शन के व्यास भाष्य में की गई सत्य की अहिंसामूलक परिभाषा जैन दर्शन में प्रतिपादित सत्यव्रत की पाँच भावनाओं 12 के समावेश के साथ की गई है–

"यथा नागपदे ऽन्यानि पदानि पदगामिनाम्।
सर्वाण्येवापि धार्यन्ते पदजातानि कौञ्जरे।।
एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमपि धीयते।
अमृतः स नित्यं वसति योऽहिंसा प्रतिपद्यते।।"

—महाभारत, 12/237/18-19

वैदिक परम्परा के न्यायादि दर्शनों में वैदिक हिंसा को वेदानिषिद्धत्व उपाधि न होने के कारण अहिंसा ही माना गया है। किन्तु जैन दर्शन के समान सांख्यदर्शन को भी यह बात स्वीकार्य नहीं हैं। जैन दर्शन में हिंसा को विकार का पर्यायवाची माना गया है। क्रोध करना, मारना, गाली देना, अपमान करना, झूठा लाञ्छन लगाना, असन्मार्ग के साधन जुटाना आदि विकार के बाह्य रूप हैं तथा रागादि रूप परिणति उसका आन्तरिक रूप है। बाह्य रूपों से द्रव्य प्राणों का और आन्तरिक रूप में भाव प्राणों का व्यपरोपण होने से हिंसा है। अमृतचन्द्र आचार्य ने अहिंसा और भाव हिंसा का उत्कृष्ट स्वरूप एक श्लोक में प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

"अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्ति हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।।'

अर्थात् आत्मा में रागादि भावों की उत्पत्ति हिंसा है और आत्मा में रागादि भावों की उत्पत्ति नहीं होना ही अहिंसा है— यहीं जिनागम का सार है।

योगदर्शन में अद्रोह को अहिंसा कहना रागादि भावों की अनुपत्पत्ति ही है। योगदर्शन का यह कथन जैनदर्शन से पूर्णतया प्रभावित है। योगदर्शन में स्वीकृत विविध हिंसा-लोभजन्य हिंसा, क्रोधजन्य हिंसा एवं बलिदानजन्य हिंसा में द्रव्य हिंसा एवं भाव हिंसा दोनों को गर्भित कर लिया गया है।

सन्दर्भ

1. सांख्यकारिका 2
2. भारतीय दर्शन (1976 संस्करण) पृ. 610
3. योगसूत्र 2/34 का व्यास भाष्य
4. योगसूत्र 2/30 का व्यास भाष्य
5. योगसूत्र 2/30 का व्यास भाष्य
6. योगसूत्र 2/30 का व्यास भाष्य
7. गुणरत्नकृत षड्दर्शन समुच्चय वृत्ति पृ. 16
8. अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्संनिधो बैर त्यागः योगसूत्र 2/35
9. महाभारत 12/237!18-19
10. महाभारत अनुशासनपर्व 115/23 एवं 116/28-29
11. तत्वार्थसूत्र 7/13
12. तत्वार्थसूत्र 7/3
13. पुरुषार्थ सिद्धि उपाय श्लोक 44